श्रीहरिः

भूमिका

श्रीमद्भगवद्गीता साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमात्मा प्रभु श्रीकृष्णकी दिव्य वाणी है। जगत्में इसकी जोड़ीका कोई भी शास्त्र नहीं। सभी श्रेणीके लोग इसमेंसे अपने-अपने अधिकारानुसार भगवत्-प्राप्तिके सुगम साधन प्राप्त कर सकते हैं। इसमें सभी मुख्य-मुख्य साधनोंका विशद वर्णन है, परन्तु कोई भी एक दूसरेका विरोधी नहीं है। सभी परस्पर सहायक हैं। ऐसा सामञ्जस्यपूर्ण ग्रन्थ केवल गीता ही है। कर्म, भक्ति और ज्ञान इन तीन प्रधान सिद्धान्तोंकी जैसी उदार, पूर्ण, निर्मल, उज्ज्वल, सरल, एवं अन्तर और बाह्य लक्षणोंसे युक्त हृदयस्पर्शी सुन्दर व्यावहारिक व्याख्या इस ग्रन्थमें मिलती है वैसी अन्यत्र कहीं नहीं। प्रत्येक मनुष्य अपनी रुचिके अनुसार किसी एक मार्गपर आरूढ़ होकर अनायास ही अपने चरम लक्ष्य तक पहुँच सकता है। श्रीमद्भगवद्गीताको हम 'निष्काम कर्मयोगयुक्त भक्तिप्रधान ज्ञानपूर्ण अध्यात्मशास्त्र' कह सकते हैं। यह सभी प्रकारके मार्गोंमें संरक्षक, सहायक, मार्गदर्शक, प्रकाशदाता और पवित्र पाथेयका प्रत्यक्ष व्यवहारिक काम दे सकता है। गीताके प्रत्येक साधनमें कुछ ऐसे दोषनाशक प्रयोग बतलाये गये हैं जिनका उपयोग करनेसे दोष समूल नष्ट होकर साधन सर्वथा शुद्ध और उपादेय बन जाता है। इसीलिये गीताका कर्म, गीताका ज्ञान, गीताका ध्यान और गीताकी भक्ति सभी सर्वथा पापशून्य, दोषरहित, पवित्र और पूर्ण हैं। किसीमें भी तनिक पोलकी गुंजाइश नहीं।

आज मुझे अपने सम्मान्य मित्र श्रीवियोगी हरिजीकी आज्ञा और उनके अनुरोधसे पवित्र 'भक्तियोग' की भूमिका लिखनेके बहाने भगवद्गीताके द्वादश अध्यायके किञ्चित् मनन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ इसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

गीताके बारहवें अध्यायका नाम भक्तियोग है, इसमें कुल बीस श्लोक हैं। पहिले श्लोकमें भक्तवर अर्जुनका प्रश्न है और शेष उन्नीस श्लोकोंमें भगवान् उसका उत्तर देते हैं। इनमें प्रथम ११ श्लोकमें तो भगवान्‌के व्यक्त (साकार) और अव्यक्त (निराकार) स्वरूपके उपासकोंकी उत्तमताका निर्णय किया गया है एवं भगवत्-प्राप्तिके कुछ उपाय बतलाये गये हैं। अगले आठ श्लोकोंमें परमात्माके परम प्रिय भक्तोंके स्वाभाविक लक्षणोंका वर्णन है।

भगवान्‌ने कृपापूर्वक अर्जुनको दिव्य चक्षु प्रदानकर अपना विराट् स्वरूप दिखलाया, उस विकराल कालस्वरूपको देखकर अर्जुनके घबराकर प्रार्थना करनेपर अपने चतुर्भुज रूपके दर्शन कराये, तदनन्तर मनुष्य-देह-धारी सौम्य रसिकशेखर श्यामसुन्दर श्रीकृष्णरूप दिखाकर उनके चित्तमें प्रादुर्भूत हुए भय और अशान्तिका नाश कर उन्हें सुखी किया। इस प्रसंगमें भगवान्‌ने अपने विराट् और चतुर्भुज-स्वरूपकी महिमा गाते हुए इनके दर्शन प्राप्त करनेवाले अर्जुनके प्रेमकी प्रशंसा की और कहा कि 'मेरे इन स्वरूपोंको प्रत्यक्ष नेत्रोंद्वारा देखना, इनके तत्त्वको समझना और इनमें प्रवेश करना केवल 'अनन्यभक्ति' से ही सम्भव है।' इसके बाद अनन्यभक्तिका स्वरूप और उसका फल अपनी प्राप्ति बतलाकर भगवान्‌ने अपना वक्तव्य समाप्त किया। एकादश अध्याय यहीं पूरा हो गया। अर्जुन अबतक भगवान्‌के अव्यक्त और व्यक्त दोनों ही स्वरूपोंकी और दोनोंके ही उपासकोंकी प्रशंसा और दोनोंसे ही परमधामकी प्राप्ति होनेकी बात सुन चुके हैं। अब वे इस सम्बन्धमें एक स्थिर निश्चयात्मक सिद्धान्त-वाक्य सुनना चाहते हैं, अतएव उन्होंने विनम्र शब्दोंमें भगवान्‌से प्रार्थना करते हुए पूछा—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥

(गी० १२।१)

'हे नाथ! जो अनन्यभक्त आपके द्वारा कथित विधिके अनुसार निरन्तर मन लगाकर आप व्यक्त-साकाररूप मनमोहन श्यामसुन्दरकी

उपासना करते हैं, एवं जो अविनाशी सच्चिदानन्दघन अव्यक्त–निराकाररूपकी उपासना करते हैं, इन दोनोंमें अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं ?' प्रश्न स्पष्ट है–अर्जुन कहते हैं, आपने अपने व्यक्त रूपकी दुर्लभता बताकर केवल अनन्यभक्तिसे ही उस रूपके प्रत्यक्ष दर्शन, उसका तत्त्वज्ञान और उसमें एकत्व प्राप्त करना सम्भव बतलाया तथा फिर उस अनन्यताके लक्षण बतलाये। परन्तु इससे पहले आप कई बार अपने अव्यक्तोपासकोंकी भी प्रशंसा कर चुके हैं, अब आप निर्णयपूर्वक एक निश्चित मत बतलाइये कि इन दोनों प्रकारकी उपासना करनेवालोंमें श्रेष्ठ कौन-से हैं ? भगवान्‌ने उत्तरमें कहा—

> मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
> श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥
>
> (गी० १२ । २)

'हे अर्जुन ! जो मुझ साकाररूप परमेश्वरमें मन लगाकर निश्चल परम श्रद्धासे युक्त हो निरन्तर मेरी ही उपासनामें लगे रहते हैं, मेरे मतसे वे ही परम उत्तम योगी हैं ।' उत्तर भी स्पष्ट है–भगवान् कहते हैं, मेरे द्वारा बतलायी हुई विधिके अनुसार मुझमें निरन्तर चित्त एकाग्र करके जो परम श्रद्धासे मेरी उपासना करते हैं, मेरे मतमें वे ही श्रेष्ठ हैं ।

यहाँ प्रथम श्लोकके 'त्वां' और इस श्लोकके 'मां' शब्द अव्यक्त–निराकार-वाचक न होकर साकार-वाचक ही हैं । क्योंकि अगले श्लोकोंमें अव्यक्तो-पासनाका स्पष्ट वर्णन है, जो 'तु' शब्दसे इससे सर्वथा पृथक् कर दिया गया है । इससे यही सिद्ध होता है कि भगवान्‌के मतमें उनके साकाररूपके उपासक ही अतिश्रेष्ठ योगी हैं एवं एकादश अध्यायके अन्तिम श्लोकके अनुसार उनको भगवत्-प्राप्ति होना निश्चित है । परन्तु इससे कोई यह न समझे कि अव्यक्तोपासना निम्न-श्रेणीकी है या उन्हें भगवत्प्राप्ति नहीं होती । इसी भ्रमकी गुंजायशको सर्वथा मिटा देनेके लिये भगवान् स्वयमेव कहते हैं—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥

(गीता १२ । ३-४)

'जो पुरुष समस्त इन्द्रियोंको वशमें करके सर्वत्र समबुद्धिसम्पन्न हो जीवमात्रके हितमें रत रहते हुए अचिन्त्य (मन-बुद्धिसे परे) सर्वत्रग (सर्वव्यापी) अनिर्देश्य (अकथनीय) कूटस्थ (नित्य एकरस) ध्रुव (नित्य) अचल, अव्यक्त (निराकार) अक्षर ब्रह्मस्वरूपकी निरन्तर उपासना करते हैं, वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।'

इस कथनसे यह निश्चय हो गया कि दोनों ही उपासनाओंका फल एक है । तो फिर अव्यक्तोपासकसे व्यक्तोपासकको उत्तम क्यों बतलाया ? क्या बिना ही कारण भगवान्‌ने ऐसी बात कह दी ? क्या मन्दबुद्धि मुमुक्षुओंको उनकी सगुणोपासनाकी प्रवृत्तिकी सिद्धिके लिये उन्हें युक्ततम बतला दिया, या उन्हें उत्साही बनाये रखनेके लिये व्यक्तोपासनाकी रोचक स्तुति कर दी अथवा अर्जुनको साकारका मन्द अधिकारी समझकर उसीके लिए व्यक्तोपासनाको श्रेष्ठ करार दे दिया ? भगवान्‌का क्या अभिप्राय था यह तो भगवान् ही जानें, परन्तु मेरा मन तो यही कहता है कि भगवान्‌ने जहाँपर जो कुछ कहा है सो सभी यथार्थ है, उनके शब्दोंमें रोचक-भयानककी कल्पना करना कदापि उचित नहीं, भगवान्‌ने न तो किसीकी अयथार्थ स्तुति की है और न अयथार्थ किसीको कोसा ही है । यहाँ भगवान्‌ने जो साकारोपासककी श्रेष्ठता बतलायी है, उसका कारण भी भगवान्‌ने अगले तीन श्लोकोंमें स्पष्ट कर दिया है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

(गी० १२ । ५)

'जिनका मन तो अव्यक्तकी ओर आसक्त है परन्तु जिनके हृदयमें देहाभिमान बना हुआ है ऐसे लोगोंके लिये अव्यक्त ब्रह्मकी उपासनामें चित्त टिकाना विशेष क्लेशसाध्य है, वास्तवमें निराकारकी गति दुःखपूर्वक ही प्राप्त होती है।'

भगवान्‌के साकार-व्यक्तस्वरूपको एक आधार रहता है, जिसका सहारा लेकर ही कोई साधन-मार्गपर आरूढ हो सकता है, परन्तु निराकारका साधक तो बिना केवटकी नावकी भाँति निराधार अपने ही बलपर चलता है। अपार संसार-सागरमें विषय-वासनाकी भीषण तरंगोंसे तरीको बचाना, भोगोंके प्रचण्ड तूफ़ानसे नावकी रक्षा करना और बिना किसी मददगारके लक्ष्यपर स्थिर रहते हुए आप ही डाँड चलाते जाना बड़ा ही कठिन कार्य है। परन्तु इसके विपरीत——

> ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
> अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
> तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
> भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
>
> (गी० १२ । ६-७)

—'जो लोग मेरे (भगवान्‌के) परायण होकर, मुझको ही अपनी परम गति, परम आश्रय, परम शक्ति और परम लक्ष्य मानते हुए सम्पूर्ण कर्म मुझमें अर्पण करके मुझ साकार ईश्वरकी अनन्ययोगसे निरन्तर उपासना करते हैं, उन मुझमें चित्त लगानेवाले भक्तोंको मृत्युशील संसार-सागरसे बहुत ही शीघ्र सुखपूर्वक मैं पार कर देता हूँ।' उनको न तो अनन्त अम्बुधिकी क्षुब्ध उत्ताल तरंगोंका भय है, और न भीषण झञ्झावातके आघातसे नौकाके ध्वंस होने या डूबनेका ही डर है। वे तो बस, मेरी कृपासे आच्छादित सुन्दर सुसज्जित दृढ़ 'बजरे' में बैठकर केवल सर्वात्मभावसे मेरी ओर निर्निमेष-दृष्टिसे ताकते रहें, मेरी लीलाएँ देख-देखकर प्रफुल्लित होते रहें, मेरी वंशीध्वनि सुन-सुनकर आनन्दमें डूबते रहें, उनकी नावका

खेवनहार केवट बनकर मैं उन्हें 'नचिरात्' इसी जन्ममें अपने हाथों डाँड़ चलाकर संसार-सागरके उस पार परम धाममें पहुँचा दूँगा।

जो भाग्यवान् भक्त भगवान्के इन वचनोंपर विश्वास कर समस्त शक्तियोंके आधार, सम्पूर्ण ज्ञानके भाण्डार, अखिल ऐश्वर्यके आकर, सौन्दर्य, प्रभुत्व, बल और प्रेमके अनन्त निधि उस परमात्माको अपनी जीवन-नौकाका खेवनहार बना लेता है, जो अपनी बाँह उसे पकड़ा देता है, उसके अनायास ही पार उतरनेमें कोई खटका कैसे रह सकता है? उसको न तो नावके टकराने, टूटने और डूबनेका भय है, न चलानेका कष्ट है और न पार पहुँचनेमें ही तनिक-सा सन्देह है।

पार तो अव्यक्तोपासक भी पहुँचता है, परन्तु उसका मार्ग कठिन है। इसप्रकार दोनोंका फल एक ही होनेके कारण सुगमताकी वजहसे यदि भगवान्ने अव्यक्तोपासककी अपेक्षा व्यक्तोपासकको श्रेष्ठ या योगवित्तम बतलाया तो उनका ऐसा कहना सर्वथा उचित ही है। परन्तु बात इतनी ही नहीं है। सरलता-कठिनता तो उपासनाकी है, इससे उपासकमें उत्तम मध्यमका भेद क्यों होने लगा? व्यक्तोपासक केवल उत्तम ही नहीं, 'योगवित्तम' है, योग जाननेवालोंमें श्रेष्ठ है। उपासनाकी सुगमताके कारण आरामकी इच्छासे कठिन मार्गको त्यागकर सरलका ग्रहण करनेवाला श्रेष्ठ योगवेत्ता कैसे हो गया? अवश्य ही इसमें कोई रहस्य छिपा हुआ होना चाहिये और वह यह है—

अव्यक्तोपासक उपासनाके फलस्वरूप अन्तमें भगवान्को प्राप्त होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु व्यक्तोपासकके तो त्रिभुवन-मोहन साकाररूप-धारी भगवान् आरम्भसे ही साथ रहते हैं। अव्यक्तोपासक अपनी 'अहं ब्रह्मास्मि' की ज्ञान-नौकापर सवार होकर यदि मार्गके अहंकार, मान, लोकैषणा आदि विघ्नोंसे बचकर आगे बढ़ पाता है, तो अन्तमें संसार-सागरके पार पहुँच जाता है। परन्तु व्यक्तोपासक तो पहलेसे ही भगवान्की कृपारूपी नौकापर सवार होता है और भगवान् स्वयं उसे खेकर पार करते हैं। नौकापर सवार होते ही उसे केवट कृष्णका साथ

मिल जाता है। पार पहुँचनेके बाद तो (अव्यक्तोपासक और व्यक्तोपासक) दोनोंके आनन्दकी स्थिति समान है ही, परन्तु व्यक्तोपासक तो मार्गमें भी पल-पलमें परम कारुणिक मोहनकी माधुरी मूरतिके देवदुर्लभ दर्शनकर पुलकित होता है, उसे उनकी मधुर वाणी, विश्व-विमोहिनी वंशीकी ध्वनि सुननेको एवं उनकी सुन्दर और शक्तिमयी क्रियाएँ देखनेको मिलती हैं। वह निश्चिन्त बैठा हुआ उनके दिव्य स्वरूप और उनकी लीलाका मज़ा लूटता है। इसके सिवा एक महत्त्वकी बात और होती है। भगवान् किस मार्गसे क्योंकर नौका चलाते हैं वह इस बातको भी ध्यानपूर्वक देखता है, जिससे वह भी परमधामके इस सुगम मार्गको और भव-तारण-कलाको सीख जाता है। ऐसे तारण-कलामें निपुण विश्वासपात्र भक्तको यदि भगवान् कृपापूर्वक अपने परम धामका अधिकारी स्वीकार कर और जगत्के लोगोंको तारनेका अधिकार देकर, अपने कार्यमें सहायक बनने या अपनी लोक-कल्याण-कारिणी लीलामें सम्मिलित रखनेके लिये नौका देकर वापस संसारमें भेज देते हैं तो वह मुक्त हुआ भी भगवान्की ही भाँति जगत्के यथार्थ हितका कार्य करता है और एक चतुर विश्वासपात्र सेवककी भाँति भगवान्के लीलाकार्यमें भी साथ रहता है। ऐसी ही स्थितिके महापुरुष कारक बनकर जगत्में आविर्भूत हुआ करते हैं। अव्यक्तोपासक परम धाममें पहुँचकर मुक्त हो वहीं रह जाते हैं, वे परमात्मामें घुल-मिलकर एक हो जाते हैं, वे वहाँसे वापस लौट ही नहीं सकते। इससे न तो उन्हें परमधाम जानेके मार्गमें साकार भगवान्के संग, उनके दर्शन, उनके साथ वार्तालाप और उनकी लीला देखनेका आनन्द मिलता है और न वे परमधामके पट्टेदार होकर सगुण भगवान्की लीलामें सम्मिलित हो उन्हींकी भाँति निपुण नाविक बनकर वापस ही आते हैं। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसासह' के अनुसार उनके बुद्धि आदि करण जो उनको दिव्यधाममें छोड़कर वहाँसे वापस लौटते हैं, वे भी साधकोंके सामने अव्यक्तोपासना-पथके उन्हीं नाना प्रकारके क्लेशोंके दृश्य रखकर परम धामकी प्राप्तिको ऐसी कष्टसाध्य और दुःख-लभ्य बता देते हैं कि लोग उसे सुनकर ही काँप जाते हैं। उनका वैसे दृश्य सामने

रखना ठीक ही है, क्योंकि उन्होंने अव्यक्तोपासनाके कण्टकाकीर्ण मार्गमें वहीं देखे हैं। उन्हें प्रेममय श्यामसुन्दरके सलोने मुखड़ेका तो कभी दर्शन हुआ ही नहीं, उन्हें वह सौन्दर्य-सुधा कभी नसीब ही नहीं हुई, तब वे उस दिव्य रसका स्वाद लोगोंको कैसे चखाते? इसके विपरीत व्यक्तोपासक अपनी मुक्तिको भगवान्के खजानेमें धरोहरके रूपमें रखकर उनकी मंगलमयी आज्ञासे पुनः संसारमें आते हैं और भगवत्-प्रेमके परम आनन्द-रस-समुद्रमें निमग्न हुए, देहाभिमानी होनेपर भी भगवान्के मंगलमय मनोहर साकाररूपमें एकान्तरूपसे मनको एकाग्र करके उन्हींके लिए सर्व कर्म करनेवाले असंख्य लोगोंको दृढ़ और सुखपूर्ण नौकाओंपर चढ़ा-चढ़ाकर संसारसे पार उतार देते हैं। यहाँ कोई यह कहे कि 'जैसे निराकारोपासक साकारके दर्शन और उनकी लीलाके आनन्दसे वञ्चित रहते हैं, वैसे ही साकारके उपासक ब्रह्मानन्दसे वञ्चित रहते होंगे। उन्हें परमात्माका तत्त्वज्ञान नहीं होता होगा।' परन्तु यह बात नहीं है। निरे निराकारोपासक अपने बलसे जिस तत्त्वज्ञानको प्राप्त करते हैं, भगवान्के प्रेमी साकारोपासकोंको वही तत्त्वज्ञान भगवत्-कृपासे मिल जाता है। भक्तराज ध्रुवजीका इतिहास प्रसिद्ध है। ध्रुव व्यक्तोपासक थे। 'पद्म-पलाश-लोचन' नारायणको आँखोंसे देखना चाहते थे। उनके प्रेमके प्रभावसे परमात्मा श्रीनारायण प्रकट हुए और अपना दिव्य शंख कपोलोंसे स्पर्श कराकर उन्हें उसी क्षण परम तत्त्वज्ञ बना दिया। इससे सिद्ध है कि व्यक्तोपासकको अव्यक्तोपासकोंका ध्येय तत्त्वज्ञान तो भगवत्-कृपासे मिल ही जाता है, वे भगवान्की सगुण लीलाओंका आनन्द विशेष पाते हैं और उसे त्रिताप-तप्त लोगोंमें बाँटकर उनका उद्धार करते हैं। व्यक्तोपासक अव्यक्त-तत्त्वज्ञानके साथ ही व्यक्त-तत्त्वको भी जानते हैं, व्यक्तोपासनाका मार्ग जानते हैं, उसके आनन्दको उपलब्ध करते हैं और लोगोंको दे सकते हैं। वे दोनों प्रकारके तत्त्व जानते, उनका आनन्द लेते और लोगोंको बतला सकते हैं, इसलिये भगवान्के मतमें वे 'योगवित्तम' हैं, योगियोंमें उत्तम हैं।

वास्तवमें बात भी यही है। प्रेमके बिना रहस्यकी गुह्य बातें नहीं

जानी जा सकतीं। किसी राजाके एक तो दीवान है और दूसरा राजाका परम विश्वासपात्र व्यक्तिगत प्रेमी सेवक है। दीवानको राज्यव्यवस्थाके सभी अधिकार प्राप्त हैं। वह राज्यसम्बन्धी सभी कार्योंकी देख-रेख और सुव्यवस्था करता है, इतना होनेपर भी राजाके मनकी गुप्त बातोंको नहीं जानता और न वह राजाके साथ अन्तःपुर आदि सभी स्थानोंमें अबाधरूपसे जा ही सकता है, 'विहार-शय्यासन-भोजनादि' में एकान्त देशमें उसको राजाके साथ रहनेका कोई अधिकार नहीं है, यद्यपि राज्य-सम्बन्धी सारे काम उसीकी सलाहसे होते हैं। इधर वह राजाका व्यक्तिगत प्रेमी मित्र यद्यपि राज्य-सम्बन्धी कार्यमें प्रकाश्य-रूपसे कुछ भी दखल नहीं रखता, परन्तु राजाकी इच्छानुसार प्रत्येक कार्यमें वह राजाको प्राइवेटमें अपनी सम्मति देता है और राजा भी उसीकी सम्मतिके अनुसार कार्य करता है। राजा अपने मनकी गोपनीय-से-गोपनीय भी सारी बातें उसके सामने निःशंकभावसे कह देता है। राजाका यह निश्चय रहता है कि 'यह मेरा प्रेमी सखा दीवानसे किसी हालतमें कम नहीं है। दीवानीका पद तो यह चाहे तो इसको अभी दिया जा सकता है, जब मैं ही इसका हूँ, तब दीवानीका पद कौन बड़ी बात है?' परन्तु उस मन्त्रीके पदको न तो वह प्रेमी चाहता है और न राजा उसे देनेमें ही सुभीता समझता है, क्योंकि दीवानीका पद दे देनेपर मर्यादाके अनुसार वह राज्यकार्यके सिवा राजाके निजी कार्योंमें साथ नहीं रह सकता, जिनमें उसकी परम आवश्यकता है। क्योंकि वह मन्त्रीत्व-पदका त्यागी प्रेमी सेवक राजाका अत्यन्त प्रिय-पात्र है, उसका सखा है और इष्ट है।

यहाँ राजाके स्थानमें परमात्मा, दीवानके स्थानमें अव्यक्तोपासक ज्ञानी और प्रेमी सखाके स्थानमें व्यक्तोपासक प्यारा भक्त है। अव्यक्तोपासक पूर्ण अधिकारी है, परन्तु वह राजा (परमात्मा) का अन्तरंग सखा नहीं, उसकी निजी लीलाओंसे न तो परिचित है और न उसके आनन्दमें सम्मिलित है। वह राज्यका सेवक है, राजाका नहीं। परन्तु वह प्यारा भक्त तो राजाका निजी सेवक है, राजाका विश्वासपात्र होनेके नाते राज्यका सेवक तो हो ही गया।

इसीलिये व्यक्तोपासक मुक्ति न लेकर भगवच्चरणोंकी नित्य सेवा माँगा करते हैं, भगवान्‌की लीलामें शामिल रहनेमें ही उन्हें आनन्द मिलता है। वास्तवमें वे धन्य हैं जिनके लिये निराकार ईश्वर साकार बनकर प्रकट होते हैं, क्योंकि वे निराकार-साकार दोनों स्वरूपोंके तत्त्वको जानते हैं, इसीसे निराकाररूपसे अपने रामको सबमें रमा हुआ जानकर भी, अव्यक्तरूपसे अपने कृष्णको सबमें व्याप्त समझकर भी धनुर्धारी मर्यादापुरुषोत्तम दाशरथी श्रीराम-रूपमें और चित्तको आकर्षण करनेवाले मुरलीमनोहर श्रीकृष्ण-रूपमें उनकी उपासना करते हैं और उनकी लीला देख-देखकर परम आनन्दमें मग्न रहते हैं। गोसाईंजी महाराजने इसीलिये कहा है—'निर्गुनरूप सुलभ अति सगुन न जाने कोय।' अतएव जो 'सगुण' सहित निर्गुणको जानते हैं वे ही भगवान्‌के मतमें 'योगवित्तम' हैं!

अब यह देखना है कि गीताके व्यक्त भगवान्‌का क्या स्वरूप है, उनके उपासककी कैसी स्थिति और कैसे आचरण हैं और इस उपासना-की प्रधान पद्धति क्या है? क्रमसे तीनोंपर विचार कीजिये—

गीतोक्त साकार उपास्यदेव एकदेशीय या सीमाबद्ध भगवान् नहीं हैं। वे निराकार भी हैं और साकार भी हैं। जो साकारोपासक अपने भगवान्‌की सीमा बाँधते हैं वे अपने ही भगवान्‌को छोटा बनाते हैं। गीताके साकार भगवान् किसी एक मूर्ति, नाम या धामविशेषमें ही सीमित नहीं हैं। वे सत्, चेतन, आनन्दघन, विज्ञानानन्दस्वरूप, पूर्ण, सनातन, अनादि, अनन्त, अज, अव्यय, शान्त, सर्वव्यापी होते हुए ही सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सृष्टिकर्त्ता, परम दयालु, परम सुहृद्, परम उदार, परम प्रेमी, परम मनोहर, परम रसिक, परम प्रभु और परम शूर-शिरोमणि हैं। वे जन्म लेते हुए दीखनेपर भी अजन्मा हैं, वे साकार व्यक्तरूपमें रहनेपर भी निराकार हैं और निराकार होकर भी साकार हैं। वे एक या एक ही साथ अनेक स्थानोंमें व्यक्तरूपसे अवतीर्ण होकर भी अपने अव्यक्तरूपसे, अपनी अनन्त सत्तासे सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा

स्थित हैं। मन्दिरमें, मन्दिरकी मूर्तिमें, उसकी दीवारमें, पूजामें, पूजाकी सामग्रीमें, और पुजारीमें, बाहर-भीतर सभी जगह वे वर्तमान हैं। वे सगुण साकाररूपमें भक्तोंके साथ लीला करते हैं और निर्गुण निराकार-रूपसे बर्फमें जलकी भाँति सर्वत्र व्याप्त हैं 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त-मूर्तिना।' उन परम दयालु प्रभुको हम किसी भी रूप और किसी भी नामसे देख और पुकार सकते हैं। इस रहस्यको समझते हुए हम ब्रह्म, परमात्मा, आनन्द, विष्णु, ब्रह्मा, शिव, राम, कृष्ण, शक्ति, सूर्य, गणेश, अरिहन्त, बुद्ध, अल्लाह, गॉड, जिहोवा आदि किसी भी नाम-रूपसे उनकी उपासना कर सकते हैं। उपासनाके फलस्वरूप जब उनकी कृपासे उनके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होगा तब सारे संशय आप ही मिट जायँगे। इस रहस्यसे वञ्चित होनेके कारण ही मनुष्य मोहवश भगवान्‌की सीमा निर्देश करने लगता है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
(गी० ४। ६)

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥
(गी० ७। २४)

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
(गी० ९। ११)

'मैं अव्ययात्मा, अजन्मा और सर्व भूतप्राणियोंका ईश्वर रहता हुआ ही अपनी प्रकृतिको अधीन करके (प्रकृतिके अधीन होकर नहीं) योगमायासे—लीलासे साकाररूपमें प्रकट होता हूँ।' 'अज, अविनाशी रहता हुआ ही मैं अपनी लीलासे प्रकट होता हूँ। मेरे इस परमोत्तम अविनाशी परम रहस्यमय भावको—तत्त्वको न जाननेके कारण ही

बुद्धिहीन मनुष्य मुझ मन-इन्द्रियोंसे परे सच्चिदानन्द परमात्माको साधारण मनुष्यकी भाँति व्यक्तभावको प्राप्त हुआ मानते हैं।' 'ऐसे परम भावसे अपरिचित मूढ़ लोग मुझ 'मनुष्य-रूप-धारी' सर्वभूतमहेश्वर परमात्माको यथार्थतः नहीं पहचानते।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि गीताके सगुण साकार—व्यक्त भगवान्, निराकार—अव्यक्त अज और अविनाशी रहते हुए ही साकार मनुष्यादि रूपमें प्रकट हो लोकोद्धारके लिये विविध लीला किया करते हैं। संक्षेपमें यही गीतोक्त व्यक्त उपास्य भगवान्‌का स्वरूप है।

अब व्यक्तोपासककी स्थिति देखिये। गीताका साकारोपासक भक्त अव्यवस्थित चित्त, मूर्ख, अभिमानी, दूसरेका अनिष्ट करनेवाला, धूर्त, शोकग्रस्त, आलसी, दीर्घसूत्री, अकर्मण्य, हर्ष-शोकादिसे अभिभूत, अशुद्ध आचरण करनेवाला, हिंसक स्वभाववाला, लोभी, कर्मफलका इच्छुक और विषयासक्त नहीं होता, पापके लिये तो उसके अन्दर तनिक भी गुंजायश नहीं रहती। वह अपनी अहंता-ममता अपने प्रियतम परमात्माके अर्पण कर निर्भय, निश्चिन्त, सिद्धि-असिद्धिमें सम, निर्विकार, विषय-विरागी, अनहंवादी, सदाप्रसन्न, सेवा-परायण, धीरज और उत्साहका पुतला, कर्तव्यनिष्ठ और अनासक्त होता है। भगवान्‌ने यहाँ साकारोपासनाका फल और उपासककी महत्ता प्रकट करते हुए संक्षेपमें उसके ये लक्षण बताये हैं कि—'वह केवल भगवान्‌के लिये ही सब कर्म करनेवाला, भगवान्‌को ही परम गति समझकर उन्हींके परायण रहनेवाला, भगवान्‌का ही अनन्य और परम भक्त, सम्पूर्ण सांसारिक विषयोंमें आसक्तिरहित, सब भूत-प्राणियोंमें वैरभावसे रहित, मनको परमात्मामें एकाग्र करके नित्य भगवान्‌के भजन-ध्यानमें रत, परम श्रद्धा-सम्पन्न, सर्व कर्मोंका भगवान्‌में भली-भाँति उत्सर्ग करनेवाला और अनन्यभावसे तैल-धारावत् परमात्माके ध्यानमें रहकर भजन-चिन्तन करनेवाला होता है (गीता ११-५५, १२-२, १२-६। ७)। गीतोक्त व्यक्तोपासककी संक्षेपमें यही स्थिति है। भगवान्‌ने इसी अध्यायके अन्तके ८ श्लोकोंमें व्यक्तोपासक सिद्ध भक्तके लक्षण विस्तारसे बतलाये हैं।

अब रही उपासनाकी पद्धति । सो व्यक्तोपासना भक्तिप्रधान होती है । अव्यक्त और व्यक्तकी उपासनामें प्रधान भेद दो हैं—उपास्यके स्वरूपका और उपासकके भावका। अव्यक्तोपासनामें उपास्य निराकार है और व्यक्तोपासनामें साकार । अव्यक्तोपासनाका साधक अपनेको ब्रह्मसे अभिन्न समझकर 'अहं ब्रह्मास्मि' कहता है, तो व्यक्तोपासनाका साधक भगवान्‌को ही सर्वरूपोंमें अभिव्यक्त हुआ समझकर 'वासुदेव सर्वमिति:' कहता है। उसकी पूजामें कोई आधार नहीं है और इसकी पूजामें भगवान्‌के साकार मनमोहन विग्रहका आधार है। वह सब कुछ स्वप्नवत् मायिक मानता है तो यह सब कुछ भगवान्‌की आनन्दमयी लीला समझता है। वह अपने बलपर अग्रसर होता है, तो यह भगवान्‌की कृपाके बलपर चलता है। उसमें ज्ञानकी प्रधानता है, तो इसमें प्रेमकी। अवश्य ही परस्पर प्रेम और ज्ञान दोनोंमें ही रहते हैं। अव्यक्तोपासक समझता है कि मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ, गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, वास्तवमें कुछ है ही नहीं। व्यक्तोपासक समझता है कि मुझे अपने हाथकी कठपुतली बनाकर भगवान् ही सब कुछ करा रहे हैं, कर्ता भोक्ता सब वे ही हैं। मेरेद्वारा जो कुछ होता है, सब उनकी प्रेरणासे और उन्हींकी शक्तिसे होता है, मेरा अस्तित्व ही उनकी इच्छापर अवलम्बित है। यों समझकर वह अपना परम कर्तव्य केवल भगवान्‌का नित्य चिन्तन करना ही मानता है। भगवान् क्या कराते हैं या करायेंगे—इस बातकी वह चिन्ता नहीं करता, वह तो अपने मन-बुद्धि उन्हें सौंपकर निश्चिन्त हो रहता है। भगवान्‌के इन वचनोंके अनुसार ही उसके आचरण होते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(गी० ८।७)

इस उपासनामें दम्भ, दर्प, काम, क्रोध, लोभ, अभिमान, असत्य और मोहको तनिक-सा भी स्थान नहीं है, उपासक इन दुर्गुणोंसे रहित

होकर सारे चराचरमें सर्वत्र अपने उपास्यदेवको देखता हुआ उनके नाम, गुण, प्रभाव और रहस्यके श्रवण, कीर्तन, मनन और ध्यानमें निरत रहता है। भजन-साधनको परम मुख्य माननेपर भी वह कर्तव्यकर्मोंसे कभी मुख नहीं मोड़ता वरं न्यायसे प्राप्त सभी योग्य कर्मोंको निर्भयता-पूर्वक धैर्य-बुद्धिसे भगवान्के निमित्त करता है। उसके मनमें एक ही सकामभाव रहता है वह यह कि, अपने प्यारे भगवान्की इच्छाके विपरीत कोई भी कार्य मुझसे कभी न बनना चाहिये। उसका यह भाव भी रहता है कि मैं परमात्माका ही प्यारा सेवक हूँ और परमात्मा ही मेरे एकमात्र सेव्य हैं, वे मुझपर दया करके मेरी सेवा स्वीकार कर मुझे कृतार्थ करनेके लिये ही अपने अव्यक्त अनन्तस्वरूपमें स्थित रहते हुए ही साकार-व्यक्तरूपमें मेरे सामने प्रकट हो रहे हैं। इसलिये वह निरन्तर श्रद्धापूर्वक भगवान्का स्मरण करता हुआ ही समस्त कर्म करता है। भगवान्ने छठे अध्यायके अन्तमें ऐसे ही भजनपरायण योगीको सर्वश्रेष्ठ योगी माना है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

(गी० ६ । ४७)

'समस्त योगियोंमें भी जो श्रद्धालु योगी मुझमें लगाये हुए अन्तरात्मा-से निरन्तर मुझे भजता है वही मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ है।' इस श्लोकमें आये हुए 'श्रद्धावान्' और 'मद्गतेनान्तरात्मना' के भाव ही द्वादश अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'श्रद्धया परयोपेता' और 'मय्यावेश्य मनः' में व्यक्त हुए हैं। 'युक्ततम' शब्द तो दोनोंमें एक ही है। व्यक्तोपासनामें भजनका अभ्यास, भगवान्के साकार-निराकार-तत्त्वका ज्ञान, उपास्य इष्टका ध्यान और उसीके लिये सर्व कर्मोंका आचरण और उसीमें सर्व कर्मफलका संन्यास रहता है। व्यक्तोपासक अपने उपास्यकी सेवाको छोड़कर मोक्ष भी नहीं चाहता। इसीसे अभ्यास, ज्ञान और ध्यानसे युक्त रहकर सर्व-कर्म-फलका परमात्माके लिये त्याग करते ही उसे परम शान्ति, परमात्माके परम

पदका अधिकार मिल जाता है। यही भाव १२ वें श्लोकमें व्यक्त किया गया है।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

'रहस्यज्ञानरहित अभ्याससे परोक्ष ज्ञान श्रेष्ठ है, उससे परमात्माका ध्यान श्रेष्ठ है और जिस सर्व-कर्म-फल-त्यागमें अभ्यास, ज्ञान और ध्यान तीनों रहते हैं वह सर्वश्रेष्ठ है, उस त्यागके अनन्तर ही परम शान्ति मिल जाती है।'

इसके बीचके ८ से ११ तकके चार श्लोकोंमें—ध्यान, अभ्यास, भगवदर्थ कर्म और भगवत्प्राप्तिरूप योगका आश्रय लेकर कर्म-फल-त्याग—ये चार साधन बतलाये गये हैं। जो जिसका अधिकारी हो, वह उसीको ग्रहण करे। इनमें छोटा-बड़ा समझनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। हाँ, जिसमें चारों हों, वह सर्वोत्तम है। वही परम भक्त है। ऐसे भक्तको जब परम सिद्धि मिल जाती है तब उसमें जिन सब लक्षणोंका प्रादुर्भाव होता है उन्हींका वर्णन अध्यायकी समाप्ति-तक के अगले आठ श्लोकोंमें है। वे लक्षण सिद्ध भक्तमें स्वाभाविक होते हैं और साधकके लिये आदर्श हैं। यही गीतोक्त व्यक्तोपासनाका रहस्य है।

इससे यह सिद्धान्त नहीं निकालना चाहिये कि अव्यक्तोपासनाका दर्जा नीचा है या उसकी उपासनामें आचरणोंकी कोई खास भिन्नता है। अव्यक्तोपासनाका अधिकार बहुत ही ऊँचा है। विरक्त, धीर, वीर और सर्वथा संयमी पुरुष-पुंगव ही इस कण्टकाकीर्ण मार्गपर पैर रख सकते हैं। उपासनामें भी दो-एक बातोंको छोड़कर प्रायः सादृश्यता ही है। व्यक्तोपासकके लिये 'सर्वभूतेषु निर्वैरः' की और 'मैत्रः करुण' की शर्त है, तो अव्यक्तोपासकके लिये 'सर्वभूतहिते रताः' की है। उसके लिये भगवान्में मनको एकाग्र करना आवश्यक है, तो इसके लिये भी समस्त

'इन्द्रियग्राम' को भलीभाँति वशमें करना ज़रूरी है। वह अपने उपास्यमें 'परम श्रद्धावान्' तो वह भी सर्वत्र ब्रह्मदर्शनमें 'सम-बुद्धि' है।

वास्तवमें भगवान्‌का क्या स्वरूप है और उनकी दिव्यवाणी श्रीगीताके श्लोकोंका क्या मर्म है, इस बातको यथार्थतः भगवान् ही जानते हैं अथवा जो महात्मा भगवत्-कृपाका अनुभव कर चुके हैं वे कुछ जान सकते हैं। मुझ-सरीखा विषय-रत प्राणी इन विषयोंमें क्या जाने। मैंने यहाँपर जो कुछ लिखा है सो असलमें पूज्य महात्मा पुरुषोंका जूठन-प्रसाद ही है। जिन प्राचीन या अर्वाचीन महात्माओंका मत इस मतसे भिन्न है, वे भी मेरे लिये तो उसी भावसे पूज्य और आदरणीय हैं। मैंने उनकी वाणीका अनादर करनेके अभिप्रायसे एक अक्षर भी नहीं लिखा है। अवश्य ही मुझे यह मत प्यारा लगता है, सम्भव है इसमें मेरी रुचि और इस ओरकी आसक्ति ही खास कारण हो। मैं तो सब सन्तोंका दासानुदास और *उनकी चरण-रजका भिखारी हूँ।*

मित्रवर श्रीवियोगी हरिजीने इस भक्तियोगमें बहुत ही सुन्दर रीतिसे व्याख्या की है। उनकी भाषामें जो भावुकता और ओजस्विता भरी है, उसका मज़ा तो पढ़नेवालोंको ही मिलता है। पढ़ते-पढ़ते मस्ती-सी छा जाती है। शरीर पुलकित और मन उल्लसित होकर आनन्द-धाराके प्रवाहसे प्लावित हो जाता है। आपने बीच-बीचमें सन्त-महात्माओंके मननीय पद और वचनोंका संग्रह करके सोनेमें सुगन्धकी लोकोक्तिको चरितार्थ कर दिया है। मैं तो उनका कृतज्ञ हूँ ही, क्योंकि मुझे उन्हींकी कृपासे भक्तियोगके पढ़नेका आनन्द और इस बहाने गीताके कुछ मन्त्रोंके स्वाध्याय करनेका सुअवसर मिला है। सर्वसाधारण 'भक्तियोग' पढ़कर शुद्ध भक्ति करना सीखें, यही सबसे प्रार्थना है।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

'कल्याण'—सम्पादक

* ॐ *

संघी मोतीलाल मास्टर

वि॰ मोहन

जिन आंखिनमें यह रूप बस्यौ उन आंखनिसों अब देखिये का ?

श्रीहरिः

गीतामें भक्ति-योग

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्॥

गवान् श्रीकृष्णने वीर-पुङ्गव अर्जुनको आज पवित्र कुरुक्षेत्रके रणाङ्गणमें अपने दोनों विश्व-विमोहन रूप दिखाये हैं। विराट्रूप तथा चतुर्भुजरूपका दर्शन कर प्रपन्न पार्थ कृतार्थ हो गया। ये अद्भुत दिव्य दर्शन मिलते ही किसे हैं? बड़े-बड़े वेदवादी वेदोंका अध्ययन करते-करते मर जाते हैं, पर यह स्वर्गाधिक सुख उन्हें भी प्राप्त नहीं होता। तपस्वियोंके भी भाग्यमें यह अपरिमित आनन्द नहीं लिखा है। दानमें भी सामर्थ्य नहीं, कि वह भगवान्‌के ऐसे अलौकिक दर्शन करा दे। इसी प्रकार वैदिक यज्ञादि भी असमर्थ ही हैं।

ये दिव्य दर्शन देवताओंको भी दुर्लभ हैं। फिर अर्जुनको यह अनुपम आनन्द कैसे प्राप्त हुआ ? पार्थके सारथिसे ही पूछिए। कहते हैं—

> भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन।
> ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

हे अर्जुन ! हे परंतप ! इस प्रकार मेरा ज्ञान होना, मुझे देखना और तत्त्वपूर्वक मुझमें प्रवेश करना केवल अनन्यभक्तिके ही द्वारा सम्भव है। यह शक्ति किसी अन्य साधनमें नहीं है। भक्तिमें और केवल भक्तिमें ही यह असीम सामर्थ्य है। यह अनन्यता क्या वस्तु है ? अनन्य भक्ति ऐसी कौन-सी परम साधना है, जिसके लिये स्वयं भगवान् इतना जोर दे रहे हैं ? क्या जड़, क्या चैतन्य, सभी भूतोंमें जिस आत्मभावनाके द्वारा एक ही उपास्य दिखायी दे, एक प्रियतमके अतिरिक्त अन्यकी कल्पना भी चित्तमें न उठे, वही अनन्य भक्ति है। सन्तवर ज्ञानदेवजीने कहा है—

'वह भक्ति ऐसी हो, जैसी कि वर्षाकी धारा, जो पृथिवीके अतिरिक्त दूसरी गति ही नहीं जानती; अथवा सब जल-सम्पदा लेकर जैसे गङ्गा समुद्रकी खोज करती है और अनन्यगति हो बार-बार उसीसे मिलती है, वैसे ही भक्त सब भावोंके समूह-सहित, हृदयमें न समाते हुए, प्रेमसे मुझमें मद्रूप हो प्रवेश करे।'

सर्वत्र वही तो है या सब वही तो है—'*ईशावास्यमिदं सर्वम्।*' अणु-अणुमें प्यारा राम ही तो रम रहा है। जहाँ-तहाँ

दुलारा कृष्ण ही तो समाया हुआ है। दूसरा और क्या है, कहाँ है ?

लाली मेरे लालकी जित देखूँ तित लाल !

यह है अनन्यभक्ति। जो ऐसा अनन्यभक्त होता है, वही भगवान्के इन विश्व-विमोहन स्वरूपोंका दिव्य दर्शन कर सकता है। हाँ, ऐसा अनन्यभक्त——

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

'हे पाण्डुनन्दन ! जो अपने सब कर्म मुझे अर्पित कर देता है, अर्थात् जो इस बुद्धि से कर्म करता है, कि सब कर्म कृष्णके ही हैं, जो मेरे ही परायण रहता है, मेरे अतिरिक्त जगत्में जिसे और कुछ भी दिखायी नहीं देता, जो मनसा-वाचा-कर्मणा मेरा भक्त है, जो आसक्तिका त्याग कर देता है, और सर्व प्राणियोंके विषयमें जो निर्वैर है अर्थात् जिसने प्राणिमात्रमें मैत्रीभाव स्थापित कर लिया है, वही व्यक्ति मुझे पाता है, अन्य नहीं।' इस अनन्यभक्तिके द्वारा ही ब्रह्मात्मैक्यके परम अनुभवके साथ ही भगवान्की मुनि-मन-मोहिनी माधुरी छविके प्रत्यक्ष दर्शन सम्भव हैं।

अर्जुनको भगवान्ने पहले दिव्य दृष्टि देकर अपना अनन्त विभूतिमय विश्वरूप दिखाया। वह रूप उसने देखा तो, पर उसका मन उसमें स्थिर नहीं हुआ। बेचारा वह ब्रह्माण्डव्यापी विराट्रूप देखकर घबरा-सा गया। वह तो सुमधुर साँवरा सलोना कृष्ण रूप ही देखना चाहता था। कहता है——

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते !

नाथ ! तुम्हारे विश्वरूपका दर्शन-सुख भोग लिया। अब ये आँखें फिर उसी चतुर्भुजरूपका रस पीनेके लिये प्यासी हो रही हैं। अब अपने इस विराट्‌रूपको समेट लो; मुझे तो अपनी वही प्यारी छवि दिखाओ श्यामसुन्दर, जिसे देखनेकी ये हठीली आँखें आदी हो गयी हैं।

अर्जुनकी इच्छा पूरी हुई। भक्तवत्सल भगवान्‌ने—

स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।

अपना वही मधुरातिमधुर कृष्णरूप भय-भीत अर्जुनको फिर दिखला दिया। तब कहीं बेचारेको चेतना आयी, जी-में-जी आया। बोला—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥

तुम्हारा यह सुन्दर मानवरूप देखकर अब मैं शान्त हुआ हूँ। धन्य, लीलामय! तुम्हारी वह भी एक लीला थी और यह भी एक लीला है! जनार्दन! मैं तुम्हारे इसी मधुर-रसका पिपासु हूँ। तुम्हारा वह विलक्षण विराट् रूप देखकर मैं तो भयभीत हो गया था। मैं सान्त हूँ, तुम अनन्त बन गये थे! मैं लौकिक हूँ, तुम अलौकिक हो गये थे! मैं तीरपर बसनेवाला साधारण प्राणी अकूल महोदधिमें फेंक दिया गया था! अब कहीं मुझे समाधान हुआ है। अब फिर सागरके तीरपर आ पहुँचा हूँ। महात्मा ज्ञानदेवके अनुभव-गम्य शब्दोंमें—

'बुद्धिको छोड़ ज्ञान डर कर अरण्यमें घुस गया था, मन अहङ्कार-सहित देशके पार चला गया था। इन्द्रियाँ प्रवृत्ति भूल गयी थीं, वाणी बोलना भूल गयी थी, इस प्रकार इस शरीर-ग्राममें दुर्दशा हो गयी थी, परन्तु अब वे सब जीती हुई प्रकृतिके हाथ लग गयीं। इस श्रीमूर्तिसे फिर उन्हें जीवन प्राप्त हो गया।'

उस अलौकिक विश्वरूपकी झाँकी पाकर सौन्दर्य-प्यासी आँखोंको सहज सुख मिले तो कैसे? व्रजकी गोपियोंकी भी तो यही दशा हुई थी, बेचारियोंको अभ्यास तो था मधुर कृष्ण-रूप देखनेका। ज्ञानि-श्रेष्ठ उद्धव बार-बार उन्हें निराकार ब्रह्मकी महिमा सुनाते, पर वे उन्हें यही उत्तर देतीं—

नन्द-नन्दन अछत कैसे आनिये उर और?

—सूर

तथा—

जेहि उर बसत स्यामसुन्दरघन तेहि निर्गुन कस आवै?
तुलसिदास, सो भजन बहावो जाहि दूसरो भावै।

अथवा—

कौन ब्रह्मकी ज्योति, ज्ञान कासों कह ऊधौ!
हमरे सुन्दर स्याम, प्रेमकौ मारग सूधौ॥

— नन्ददास

अर्जुन भी भगवान्‌को अपने आज्ञावाही सुन्दर सारथिके ही रूपमें देखना चाहता था। सो, अति मनोहर मानुष-रूप देखकर

जी तो उसका ठिकाने आ गया, पर शङ्का न गयी, । बनी ही रही । विश्वरूप भी अलौकिक है और कृष्णरूप भी अपूर्व है । भगवान्‌ने अपने अव्यक्त रूपकी क्या कुछ कम महिमा गायी है ? और, यह व्यक्त रूप भी भक्तोंका हृदयहारी है । अब दो में श्रेष्ठ कौन है— व्यक्त अथवा अव्यक्त ? अव्यक्त-उपासना की जाय या व्यक्त-उपासना ? सङ्कोच अब काहेका, पूछ ही लेना चाहिए । कितने प्रश्न किये, एक यह भी सही । भक्तिसे व्यक्त स्वरूपकी प्राप्ति होती है और ज्ञानसे अव्यक्तकी । इन दोनोंमें श्रेष्ठ मार्ग कौन-सा है ?

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

इस पूर्वोक्त अनन्य भक्ति-योगके प्रकारसे युक्त होकर जो भक्त निरन्तर तुम्हारी (व्यक्त रूपकी) उपासना करते हैं, और जो तुम्हारे अव्यक्त अक्षरस्वरूपका ध्यान करते हैं, इनमेंसे किसे श्रेष्ठ योगी मानना चाहिए ? यथार्थमें, योग किसे अवगत हुआ है ? व्यक्तो-पासकको अथवा अव्यक्तोपासकको ? दोनों रूप हैं तो तुम्हारे ही । दोनों मार्ग भी तुम्हारी ही प्राप्तिके हैं, साकार भी तुम हो, और निराकार भी तुम्हीं हो, फिर भी तुलना करना हमारा स्वाभाविक धर्म है । यह तो स्पष्ट हो गया है, कि भक्ति-साधनासे ही साधकको तुम्हारे दोनों स्वरूप प्रत्यक्ष होते हैं, किन्तु यह शंका मनसे किसी

प्रकार नहीं हटती, कि किस स्वरूपका उपासक उत्तम योग-वेत्ता है ? माधव ! तुम्हारा वचनामृत अतृप्तिकर है, कितना ही पिया जाय, तृप्ति ही नहीं होती, और फिर यह भक्ति-सुधा ! नाथ, इस रसको पीकर अघाना कैसा ? प्रश्नोत्तरके ही बहाने सही, थोड़ी और पिला दो न अपनी प्रेम-सुधा, प्यारे सखा !

भगवान् भक्त-वत्सल तो हैं ही, उमड़ उठी हृदयसे स्नेह-धारा, प्रेमके आँसुओंसे आँखें भर आयीं, गद्गद हो गये, फिर अपनेको सँभालकर पार्थ-सारथि कुछ मुस्कराये और बड़े ही मधुर स्वरसे बोले––

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

नित्य निरन्तर मुझमें मन लगाकर युक्तचित्त हो परम श्रद्धासे जो मेरी (व्यक्त-रूपकी) उपासना करते हैं, मेरे मतमें वे सर्वश्रेष्ठ योगी हैं ।

'प्रभुमें अपने मनको लगा देना'—यही तो महान् कठिन काम है । *'मनोदुर्निग्रहं चलं'* कहकर भगवान्ने भी मन-देवताकी महती महिमा गायी है । मुश्किलसे यह हाथमें आता है । यह मदोन्मत्त मन-मातंग अपना निरङ्कुश स्वभाव छोड़कर प्रभुके चरणोंमें लग जाय, तो सब काम ही न बन जायँ । पर निराश होनेकी बात नहीं । हज़रत बसमें हो सकते हैं । इनका सारा चुलबुलापन

छूट सकता है। पैरमें प्रेमकी जंजीर पड़ने तो दो—

मन मतंग मदमत्त था, फिरता गहर गँभीर।
दौहरी तेहरी चौहरी, परि गइ प्रेम-जँजीर॥

अभी प्रभुकी ओर इसे झुकाया ही कब है। भक्ति-सरितामें इसने अभी अवगाहन ही कब किया है? प्रेम-प्रवाहमें इसे अब एक बार बहा तो देखें। निष्कपट-भावसे एक बार अन्तःकरणको प्रभुके पावन चरणोंपर रखकर प्रेम-विह्वल होनेभरकी देर है, परमानन्द-निधि तो अपने पास है ही। जिन्होंने अपने चञ्चल चित्तको सब विषयोंकी ओरसे मोड़कर श्रीहरिके चरणोंमें लगा दिया, वे धन्य हैं। सच्चा सन्त वही है, जिसका मन, नमककी डलीकी तरह, प्रेम-सरोवरमें घुलकर लीन हो गया है। जिसका चित्त सदा उस प्यारे कृष्णका ही चिन्तन किया करता है वही तो गहरे प्रेम-भेदका जाननेहारा योगी है। उस राममें अपने मनको रमा देना ही ऊँची-से-ऊँची साधना है। मनकी स्वेच्छाचारिणी वृत्तियोंको रोककर भगवान्‌में लीन कर देना ही तो योग है। मन जब प्रभुमें लीन हो गया, तब योगसे युक्त भगवद्भक्त वह हो ही गया। नित्य निरन्तर युक्तचित्त होकर ही उपासना करते बनती है। लोक-संग्रहकी दृष्टिसे भक्त कर्त्तव्य-कर्मोंका त्याग नहीं कर देता। पर उसका मन उन कर्मोंमें आसक्त नहीं होता, वह तो प्रभुमें ही लीन रहता है। पनिहारी चलती है, बात करती है, हाथ हिलाती है, सिर डुलाती है, पर ध्यान उसका अपने घड़ेपर ही रहता है।

जिसका चित्त ठिकानेपर आ गया है, अर्थात् जो योगयुक्त हो चुका है, वह कर्मोको करते हुए भी प्रेम-भक्तिके रसाम्बुनिधिमें निमग्न रहा करता है। अतः भक्तिका अर्थ 'कर्मत्याग' नहीं है; विशेषता यही है, कि भक्त अपनेको कर्त्ता नहीं समझता। कर्त्ता तो एक प्रभु है। करनेवाला वह है और करानेवाला भी वही है। वह मानता है, कि सबके हृदयोंमें रमनेवाला राम अपनी मायासे प्राणिमात्रको ऐसे घुमा रहा है, मानो वे सब किसी यन्त्रपर चढ़ा दिये गये हों—

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।

'यन्त्रके सारे पुरजे यन्त्रीके हाथमें हैं'—अनासक्तिकी इस भावनाको लेकर जो भक्ति-मार्गपर चलता है, वही श्रेष्ठ योगी है। पर इस खँड़ेकी धारपर चलनेके लिये श्रद्धाकी बड़ी आवश्यकता है। अन्तःकरणमें परम श्रद्धा होनी चाहिए। जब मन निर्विकार हो जाता है, तभी उसमें परा श्रद्धाका पूर्णोदय होता है। जबतक विषय-विकार रहेंगे, तबतक अनेक संशय मनमें जड़ जमाये रहेंगे। संशयवान्‌को शान्ति कहाँ? वह तो नष्ट होनेको है, क्योंकि उसमें श्रद्धामूलक प्रेमका अभाव है। बिना श्रद्धाके प्रेम नहीं होता और बिना प्रतीतिके प्रीति नहीं होती—

बिनु बिस्वासै भक्ति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
राम-कृपा बिनु सपनेहुँ, जीव न लह बिश्राम॥

—तुलसी

भक्ति भी श्रद्धासे ही प्राप्त होती है और ज्ञान भी श्रद्धासे

ही अवगत होता है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

अर्थात्, जब इन्द्रिय-निग्रह और भगवत्परायणताके द्वारा श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञान-लाभका प्रयत्न करने लगता है, तभी उसे 'ब्रह्मात्मैक्यज्ञान' का अनुभव होता है और फिर उस परम ज्ञानसे उसे तुरन्त पूर्ण शान्ति प्राप्त हो जाती है। श्रद्धा पर लोकमान्य तिलक अपने सुप्रसिद्ध गीतारहस्यमें लिखते हैं—

'यदि यह निश्चयात्मक ज्ञान होनेके लिये भी श्रद्धाकी आवश्यकता है, कि सूर्यका उदय कल सबेरे होगा, तो यह भी निर्विवाद सिद्ध है, कि इस बातको पूर्णतया जान लेनेके लिये—कि सारी सृष्टिका मूल अनादि, अनन्त, सर्वकर्तृ, सर्वज्ञ, स्वतन्त्र और चैतन्यरूप है—पहले हम लोगोंको, जहाँतक जा सकें, बुद्धिरूपी बटोहीका अवलम्बन करना चाहिए, परन्तु आगे, उसके अनुरोधसे, कुछ दूर तो अवश्य ही श्रद्धा तथा प्रेमकी पगडंडीसे ही जाना चाहिए! देखिए, जिसे मैं मा कहकर ईश्वरके समान वंद्य और पूज्य मानता हूँ, उसे ही अन्य लोग एक सामान्य स्त्री समझते हैं या नैय्यायिकोंके शास्त्रीय शब्दाडम्बरके अनुसार 'गर्भधारण-प्रसवादि स्त्रीत्व सामान्यावच्छेदकावच्छिन्नव्यक्तिविशेष' समझते हैं! इस एक छोटे-से व्यावहारिक उदाहरणसे यह बात किसीके भी ध्यानमें सहज आ सकती है, कि जब केवल तर्कशास्त्रके सहारे प्राप्त किया

गया ज्ञान, श्रद्धा और प्रेमके साँचेमें ढाला जाता है, तब उसमें कैसा अन्तर हो जाता है। इसी कारणसे गीता में* कहा है कि कर्मयोगियोंमें भी श्रद्धावान् श्रेष्ठ है, और ऐसा ही सिद्धान्त, जैसा पहले कह आये हैं, अध्यात्मशास्त्रमें भी किया गया है, कि इन्द्रियातीत होनेके कारण जिन परमार्थोंका चिन्तन करते नहीं बनता, उनके स्वरूपका निर्णय केवल तर्कसे नहीं करना चाहिए—*'अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केण चिन्तयेत् ।'*

लोकमान्यकी उपर्युक्त श्रद्धा-विवेचनासे *'श्रद्धया परयोपेताः'* इन शब्दोंका महत्त्व भलीभाँति सिद्ध हो जाता है। क्या ज्ञान, क्या भक्ति, क्या कर्म इन सभी मार्गोंमें शुद्ध श्रद्धाकी परमावश्यकता है। जो श्रद्धा-विहीन है, जिसकी अपने आपपर भी श्रद्धा नहीं है, वह तो नष्ट ही होने को है। महावीर मारुतिको पहले अपने ही बलपर विश्वास न था, इसीसे वे समुद्र पार जानेमें हिचकते थे। जब ऋक्षराजने कहा, कि—

पवन-तनय-बल पवन-समाना। बुद्धि-विवेक-विज्ञान-निधाना ॥
कवन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं तात होइ तुम्ह पाहीं ॥

तब इतना सुनकर ही हनुमान पर्वताकार हो गये और अपनी अव्यक्त शक्ति तथा स्वामीकी अनन्त कृपापर विश्वास करके सागरको लीलापूर्वक ही लाँघ गये। जिसे अपने परमदयालु प्रभुकी

---

* योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ६–४७

वात्सल्यमयी कृपामें पूर्णतया विश्वास हो गया, उसे न तो संशय ही सतायँगे और न चिन्ता ही जलायगी। वह नालिकका परम दुलारा सन्त तो निःसंशय और निश्चिन्त हो यही कहेगा—

'पलटू' संशय छूटिगे, मिलिया पूरा यार।
मगन आपने ख्यालमें, भाड़ पड़ै संसार॥
ज्यों-ज्यों रूठै जगत सब, मोर होय कल्यान।
'पलटू' बार न बाँकि है, जो सिरपर भगवान॥

बिना श्रद्धा और बिना निश्चयके अन्तस्तल-विहारी स्वामीसे मिलन हो नहीं सकता—

सील सन्तोष बिबेक बुधि, दया धर्म इक तार।
बिन निहचै पावै नहीं, साहिब का दीदार॥

सारांश यह है कि भगवद्दर्शनाभिलाषीको भगवत्स्वरूपमें चित्त-वृत्ति-निरोध, नित्ययुक्तता और पराश्रद्धाकी शरण अवश्य ही लेनी चाहिए। जिसमें यह तीनों ही सिद्ध गुण विद्यमान हैं, भगवान् श्रीकृष्णके मतमें, वही सर्वश्रेष्ठ योगी है।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥३॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥४॥

परन्तु जो सब इन्द्रियोंको रोककर अप्रत्यक्ष, अव्यक्त, सर्वव्यापी,

अचिन्त्य, सबके मूलमें रहनेवाले, अचल और नित्य अक्षर-ब्रह्मकी उपासना सर्वत्र समत्वकी बुद्धिसे करते हैं, वे सर्व प्राणियोंके हितमें लगे हुए लोग मुझे ही पाते हैं।

अर्जुनने जो यह प्रश्न किया था, कि व्यक्त-स्वरूपका उपासक श्रेष्ठ है अथवा अव्यक्त-स्वरूपका, उसका उत्तर तो भगवान्‌ने दूसरे श्लोकमें दे दिया। तो क्या अव्यक्त स्वरूपकी उपासना करनेवाला श्रेष्ठ नहीं है? भगवान् कहते हैं, श्रेष्ठ क्यों नहीं है, मेरे अव्यक्त स्वरूपका उपासक भी मुझे ही पाता है! किन्तु यह अव्यक्त उपासनाका मार्ग अत्यन्त कठिन है! उस अव्यक्त, अचिन्त्य और अनिर्देश्य ब्रह्मका स्वरूप अचिन्त्य है, वहाँ न मनकी ही पहुँच है और न बुद्धिकी ही गति है, वाणीकी तो कौन कहे—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

वह स्वरूप ध्यानको भी दुर्लभ है। वहाँ चित्तका चिन्तन भी विमूढ़ हो जाता है। जिसके सम्बन्धमें न यह कहा जा सकता है, कि 'है' और न यही कहा जा सकता है, कि 'नहीं है' ऐसे अव्यक्त ब्रह्मकी प्राप्तिके लिए कैसे क्या प्रयत्न किया जाय? इस मार्गकी साधना अत्यन्त कष्टदायिनी है। इसके साधकको सबसे पहले दुर्निग्रह इन्द्रिय-समूहको अपने अधीन करना होता है। यह इन्द्रिय-ग्राम बड़ा ही प्रबल है। कठिन है इसके प्रखर चक्रसे बचना—

बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपिकर्षति!

यह प्रबला इन्द्रियाँ बड़े-बड़े ज्ञानी और ध्यानियोंको भी खींचकर नीचे फेंक देती हैं। इन्द्रियोंकी नग्न-लीला ही तो माया है। किसे इस मोहिनीने मोहित नहीं कर लिया? ऐसी निरंकुश इन्द्रियोंको मरोड़कर अव्यक्त उपासनाके दुर्गम मार्गपर साधकको चलना है। ये इन्द्रियाँ बड़ी कुटिला हैं। गड्ढेमें ढकेलकर पीछे मज़ाक भी उड़ाती हैं। गोसाईंजी कहते हैं—

परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन, निज बस नाहिं हँसैहौं।

'जबतक मैं इनका गुलाम बना रहा, तभीतक इन इन्द्रियोंने मेरा खूब उपहास किया, पर अब मन तथा इन्द्रियोंको अपने वशमें करके अपनी हँसी इनसे नहीं कराऊँगा।' अतः इन्द्रियोंको वशमें करना ही होगा पर यह इन्द्रिय-ग्राम वशमें हो कैसे? इसका उपाय महात्मा ज्ञानदेवजी बतलाते हैं—

'जिन्होंने वैराग्य-रूपी अग्निसे विषयोंकी सेनाको जलाकर तपी हुई इन्द्रियोंको धैर्यके साथ वशमें कर लिया है और उनको निग्रहरूपी फाँसी लगा उलटी मरोड़कर हृदयरूपी-गुफामें बन्द कर दिया है, तथा जिन्होंने संकल्परूपी बकरे मारकर प्राणशक्ति-रूपी चामुण्डा देवीको मनरूपी महिषके मस्तकका बलिदान दिया है, वे भी, हे किरीटी, मुझको ही प्राप्त करते हैं।'

कितनी कठिन साधना है यह! आत्म-महारथी शूर-वीरोंका ही काम है इस विकट अखाड़ेमें उतरना। महा प्रबला इन्द्रियोंको

परास्त कर देना कोई मामूली बात नहीं है। विषयोंके स्वादको भुला देना आत्मशूरका ही काम है। वास्तवमें, यह व्रत 'खड्ग-धारा-व्रत' है।

फिर, सर्वत्र समताकी बुद्धिसे काम लेना होता है। 'प्रत्येक परमाणुमें परमात्माका ही वास है'—यह व्यापक ज्ञान जबतक प्रत्यक्ष नहीं होता, तबतक समत्वकी प्राप्ति बहुत दूर है। इस ज्ञानका अनुभव हो जाय, कि घट-घटमें राम ही रम रहा है, ज़र्रे-ज़र्रेमें प्यारा कृष्ण ही समाया हुआ है,—तो फिर भेद-बुद्धि हममें रहेगी ही कहाँ ? समत्वका अनुभव करके अब किससे तो राग किया जाय और किससे द्वेष ? जहाँ-तहाँ जिसको प्यारा कृष्ण ही कृष्ण दिखाई देता है, उसे ही समबुद्धिकी परम निधि प्राप्त हुई है, ऐसा समझना चाहिये। कबीरकी एक साखी है—

समदृष्टी सतगुरु किया, मेरा भरम-विकार।
जहँ देखौं तहँ एकही, साहिबका दीदार॥

यह है समत्व-बुद्धि। परमात्मा जब स्वयं समद्रष्टा है, तब उसके सेवकोंको भी समदृष्टिसे ही काम लेना चाहिए। उसके दरबारमें विषम व्यवहारके लिए स्थान नहीं है। यह मुँहदेखा व्यवहार तो हमीं लोगोंने चलाया है। विषमता मूर्खोंको ही शोभा देती है, पण्डितोंको नहीं। ज्ञानियोंकी शोभा तो समत्व-बुद्धिमें ही है। गीतामें कहा है—

विद्या-विनय-सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

अर्थात्, ज्ञानियोंकी दृष्टि विद्वान् और विनयशील ब्राह्मणमें, गायमें, हाथीमें, कुत्तेमें और (कुत्तेको खानेवाले) चाण्डालमें समान रहती है।

इस श्लोकपर, अपने 'अनासक्ति योग' में महात्मा गान्धीने यह टिप्पणी दी है—

'ब्राह्मण और चाण्डालके प्रति सम-भाव रखनेका अर्थ यह है, कि ब्राह्मणको सर्प काटने पर उसके दंशको जैसे ज्ञानी प्रेम-भावसे चूसकर उसे विष-मुक्त करनेका प्रयत्न करेगा, उसीप्रकार चाण्डालके सम्बन्धमें भी, वैसी स्थितिमें, व्यवहार करेगा। तात्पर्य, ज्ञानी सब की, उनकी आवश्यकतानुसार सेवा करता है।'

ऐसे जितेन्द्रिय और समबुद्धि-सम्पन्न अव्यक्त-रूपके उपासकोंको भगवान्‌ने *'सर्वभूतहिते रताः'* कहकर कर्मयोग-सिद्धान्तकी महत्ता और भी बढ़ा दी है। सब प्राणियोंका हित-साधन जितेन्द्रिय और समबुद्धिसम्पन्न भक्त न करेगा, तो फिर कौन करेगा? सच्चा अनासक्त कर्मयोगी भगवद्भक्त ही हो सकता है। जिसे सम्यक् प्रकारसे समत्व प्राप्त होगया, वह योगी तो है ही, क्योंकि 'समत्व' ही तो योग है। वह किसीका अहित कर ही नहीं सकता। जितेन्द्रिय सदा जाग्रत रहता है, अतः निरन्तर भूतमात्रके हितमें वह निरत रहा करता है। परहित-साधनके समान अन्य धर्म ही कौन है? गोसाँईजीने कहा है—

पर-हित सरिस धर्म नहिं भाई।

और, सन्त तो स्वभावसे ही परहित-निरत होते हैं--

परउपकार बचन-मन-काया । सन्त-सहज-स्वभाव खगराया ॥

तथैव--

परहित लागि तजइ जो देही । सन्तत सन्त प्रसंसहिं तेही ॥

अतः परहितकारी कर्मोंका तो भक्तको स्वप्नमें भी त्याग न करना चाहिए । जो अद्वैत ज्ञानका नाम लेकर या प्रेम-भक्तिमें मस्त हो जानेका बहाना कर लोकोपकारी कर्मोंको छोड़ बैठते हैं, वे न तो ज्ञानी हैं, न भक्त हैं, पेटार्थू पाखण्डी हैं । महात्मा गान्धीने, अपने 'अनासक्तियोग' की प्रस्तावनामें लिखा है--

"लौकिक कल्पनामें भक्तका मतलब है--केवल माला लेकर जप करनेवाला । सेवा-कर्म करते भी उसकी मालामें विक्षेप पड़ता है ! इसलिए वह खाने-पीने आदि भोग भोगनेके समय ही मालाको हाथसे छोड़ता है; चक्की चलाने या रोगीकी सेवा-शुश्रूषा करनेके लिए कभी नहीं !"

भगवान्‌के व्यक्त स्वरूपका उपासक हो अथवा अव्यक्त स्वरूपका, लोक-कल्याण-कारी कर्मोंमें तो उसे निरन्तर निरत रहना ही चाहिए । यह समस्त लोक भगवान्‌का विराट् स्वरूप ही तो है, अतः लोकसेवा भी भगवत्-सेवा ही है । जिसे यह अनुभव हो गया, कि जगत् 'वासुदेवमय' है अथवा वासुदेव ही 'विश्व' है, वह प्राणिमात्रके हितमें निरत न होगा, तो फिर कौन होगा ? परमात्माका भक्त संसारकी निष्काम सेवा करता है । वह प्रत्येक

प्राणीको अपने प्रियतमका प्यारा मन्दिर समझता है, इससे सबकी प्रेमपूर्वक सेवा ही करता रहता है। किन्तु स्वार्थवश किसीमें आसक्त नहीं होता। जो स्वेच्छाविहारिणी इन्द्रियोंको अपने अधीन कर चुका है, उसके हृदयमें विषयासक्ति हो ही नहीं सकती। वह तो केवल लोककल्याणकारी कर्म करना जानता है; उस कर्मका फल उसे क्या मिलेगा इसकी उसे खबर नहीं। खबर कैसे हो और किसे हो, लव तो उसकी प्रभुमें लगी हुई है।

यह है अव्यक्त स्वरूपकी उपासना। कितना क्लेशकर साधन है यह! पूर्णतया इन्द्रियनिग्रह करना, सर्वत्र समबुद्धिसे काम लेना और सदा सर्व प्राणियोंके हित-साधनमें निरत रहना हर किसी साधारण साधकके वशका नहीं है। इस मार्गको भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं ही महान् क्लेशकारक कहा है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥५॥

अव्यक्त स्वरूपमें चित्त आसक्त रहनेसे उन साधकोंको क्लेश बहुत अधिक होते हैं। बात यह है, कि देहाभिमानी मनुष्य अव्यक्त उपासनाकी गतिको कष्टसे ही पा सकते हैं। यह मार्ग अत्यन्त कष्टसाध्य है।

इस श्लोकमें परमात्माके अव्यक्त स्वरूपकी प्राप्ति कष्टसाध्य कही गई है। इससे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है, कि व्यक्त स्वरूपकी

उपासना अपेक्षाकृत सुगम और सुखसाध्य है। साकार मनुष्य साकार ईश्वरकी ही कल्पना करेगा। सगुण साधक सगुण साध्यका ही ध्यान धरेगा। व्यक्त मनुष्यके लिए अव्यक्त भगवान्‌की उपासना इसीलिए क्लेशकारिणी बतलाई गई है। परमात्माका निर्गुण, निराकार, अचिन्त्य और अव्यक्त स्वरूप केवल अनुभवगम्य और इन्द्रियोंको अगोचर होनेके कारण उपासनाके उपयुक्त नहीं है। भगवान्‌ने स्वयं श्रीमुखसे यह कहा है, कि—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

अर्थात् यद्यपि मैं अव्यक्त हूँ, तथापि मूढ़जन मेरे श्रेष्ठ और अव्यय परम भावको न जानते हुए मुझे देहधारी मनुष्य मानते हैं।

बिलकुल ठीक; पर देहधारियोंकी गति उस अव्यक्त स्वरूप तक हो, तब न? मनुष्य तो अपनी ही जैसी कल्पना अपने प्रभुकी करेगा। वह तो सगुण परमात्माकी ही आराधना करना चाहेगा। उस बेचारेको तो अपने मानव-जीवनकी यात्रामें एक—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।

—चाहिए। उसे ऐसा आराध्य चाहिए, जिसके सामने जाकर वह निःसंकोच हो, यह कह सके कि—

अवगुन मेरे बापजी, बगसु गरीब-निवाज।
जो मैं पूत कपूत हौं, तऊ पिताको लाज॥

मैं अपराधी जनमका, नखसिख भरा बिकार।
तुम दाता दुख-भंजना, मेरी करौ सम्हार॥
तुम तो समरथ साइयाँ, दृढ़ करि पकरौ बाँहि।
धुरही लौं पहुँचाइयो, जिनि छाँड़ौ मग माहिं॥

—कबीर

उसे ऐसा प्यारा जीवन-सखा चाहिए, जिसके साथ वह निर्भय होकर, इस भाँति लड़-झगड़ सके—

आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।
कै मैं ही कै तुमहीं माधव, अपुन भरोसे लरिहौं॥
हौं तौ पतित सात पीढ़िन कौ, पतितै ह्वै निस्तरिहौं।
अब हौं उघरि नचन चाहत हौं, तुम्हें बिरद बिनु करिहौं॥

—सूर

जो ब्रह्म अतर्क्य, अचिन्त्य, अव्यक्त, अनिर्देश्य आदि शब्दोंसे निरूपित किया गया है, वही भावुक भक्तोंकी प्रेममयी दृष्टिमें उनका *'पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः'* अर्थात् परमपिता और परम-सखा हो जाता है! वेदान्तका परमसिद्धान्त गो-धूलि-धूसराङ्ग गोपाल बनकर नन्द-निकेताङ्गणमें नृत्य करने लगता है! अहा!

सखि! शृणु कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गणे मया दृष्टम्।
गोधूलिधूसराङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः॥

तथैव—

सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अखंड अनंत अछेद अभेद सो बेद बतावैं॥
नारद-से सुक ब्यास रटैं, पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीरकी छोहरियाँ छछिया भर छाछपै नाच नचावैं॥

—रसखानि

भगवान् भाव-वश्य हैं, प्रेमके भूखे हैं। प्रतीकमें स्वतः भगवान् नहीं हैं, किन्तु भक्तके भावमें भगवान् हैं। भावुक अपने भावके अवलम्बनसे ही अपने प्रिय प्रतीकमें प्रियतमका स्वरूप देखता है। कहा भी है—*'भावे तिष्ठति देवता।'* अपना प्रेमभाव स्थिर करनेके लिए भक्तको किसी-न-किसी प्रतीककी स्थापना करनी ही पड़ती है। श्रीगान्धीजी, अनासक्तियोगमें लिखते हैं—

"देहधारी मनुष्य अमूर्त्त स्वरूपकी केवल कल्पना ही कर सकता है, पर उसके पास अमूर्त्त स्वरूपके लिए एक भी निश्चयात्मक शब्द नहीं है, इसलिए उसे निषेधात्मक 'नेति' शब्दसे सन्तोष करना पड़ता है। इसीलिए मूर्ति-पूजाका निषेध करनेवाले भी, सूक्ष्म रीतिसे देखनेपर, मूर्तिपूजक ही होते हैं। पुस्तककी पूजा करना, मन्दिरमें जाकर पूजा करना, एक ही दिशामें मुख करके पूजा करना, ये सभी साकार पूजाके ही तो लक्षण हैं।"

प्रतीकके प्रकारपर बहस नहीं है। राम कहो या कृष्ण कहो, बुद्ध कहो या ईसा कहो, कुछ भी कहो, अपने भावमें स्थिरता प्राप्त करनेके लिए एक-न-एक प्रतीककी आवश्यकता तो मनुष्यको होगी ही। बिना किसी प्रेमाधारके उपासनाका आरम्भ हो ही नहीं सकता। किन्तु प्रतीककी उपासना ही हमारा अन्तिम ध्येय नहीं है। उसकी एक सीमा है। जबतक देहाभिमान दूर नहीं हुआ, तबतक व्यक्त पूजासे ही निस्तार है। यह साधन

सुगम तथा सुकर भी है। अपना कोई-न-कोई श्रद्धा-भाजन बनाना मनुष्यके स्वभावमें है, क्योंकि उसकी श्रद्धामयी प्रकृति ही है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

मनुष्य श्रद्धामय है; प्रतीक कुछ भी हो। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, प्रतीक भी वैसा ही हो जाता है—

जिनकी रही भावना जैसी। प्रभु-मूरति देखी तिन्ह तैसी॥

—तुलसी

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

जिस प्रकार मुझे जो भजते हैं, मैं भी उसी प्रकार उन्हें भजता हूँ। यदि भक्तका नाता भगवान्‌से है, तो भगवान्‌का भी नाता अपने भक्तसे है—

हम भक्तनके, भक्त हमारे।
सुन अर्जुन, परतिग्या मेरी, यह व्रत टरत न टारे॥

—सूर

अस्तु; यह सिद्ध हुआ, कि व्यक्त स्वरूपके उपासकको अपना भाव स्थिर करनेके निमित्त आरम्भमें किसी-न-किसी प्रतीककी आवश्यकता तो होती ही है। किन्तु यह ध्यानमें रखना चाहिए, कि

अन्तस्तलका भाव मुख्य है और प्रतीक गौण। लोकमान्य तिलकने गीतारहस्यमें लिखा है—

"प्रतीक कुछ भी हो, भक्तिमार्गका फल प्रतीकमें नहीं है, किन्तु उस प्रतीकमें जो हमारा आन्तरिक भाव होता है, उस भावमें है; इसलिए यह सच है, कि प्रतीकके बारेमें झगड़ा मचानेसे कुछ लाभ नहीं।"

सगुणोपासना किए बिना अव्यक्त-पदमें, प्रेमासक्तिका होना असम्भव ही है। उस अज्ञात मार्गपर चलनेका साहस कौन देहाभिमानी करेगा? ज्ञानदेवजीके मार्मिक शब्दोंमें—

"मृत्युसे भी तीखा अथवा उबलता हुआ विष क्या लीला जा सकता है? पर्वतको लीलते हुए क्या मुँह नहीं फटता? अतएव पङ्गु जैसे वायुसे स्पर्धा नहीं कर सकता, वैसे ही देहधारी जीवोंको अव्यक्त स्वरूपकी प्राप्ति नहीं हो सकती।"

भक्ति-पथके पथिकोंको यह सब कष्ट नहीं होता। वे अबोध बालककी तरह अपने परम पिताकी प्यार-भरी गोदमें खेलते हुए ही 'अच्युत-पद' को प्राप्त कर लेते हैं। भगवान्‌ने उन प्यारे देहधारी प्राणियोंके लिए, जो अव्यक्त-उपासना करनेमें असमर्थ हैं, ये सुगम मार्ग निर्धारित कर दिये हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण अपने सखा प्यारे पार्थको आश्वासन देते हुए कहते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

परन्तु, हे पार्थ ! जो मत्परायण पुरुष अपने समस्त कर्म मुझे समर्पित करके अनन्य योगसे मेरी उपासना करते हैं, और मुझमें ही जिनका चित्त लगा हुआ है, उनका उद्धार मैं मृत्युमय संसार-सागरसे तुरन्त कर देता हूँ ।

यहाँ, भगवान्‌ने अपने व्यक्त स्वरूपकी उपासना तथा ज्ञानयुक्त श्रद्धामूलक भक्तिमय कर्मयोगका उपदेश किया है । भगवान् अपने भक्तके हृदयसे कर्तृत्वका मिथ्या अहङ्कार निकाल कर फेंक देना चाहते हैं । वह चाहते हैं, कि भक्तियोगका साधक कर्मका स्वरूपतः परित्याग न करे, किन्तु फलासक्तिके फन्देमें भी न पड़ जाय । इसीसे वह सर्व कर्मोंको ईश्वरार्पण करनेपर ही ज़ोर दे रहे हैं । लोक-संग्रहकी अत्युपयोगी सनातन योजनामें भी विक्षेप न आने पाये और भक्तके समस्त कर्मफल भी नष्ट होते जायँ—मृत्युमय संसार-सागरसे उद्धार पानेका यह कैसा सुन्दर सुगम उपाय है । एक ही वाणसे दो लक्ष्य वेधे जा रहे हैं । पर यह लक्ष्य-वेध भगवत्-परायण पुरुष ही कर सकता है । केवल वही भगवान्‌में अपने कर्मोंका सम्यक् प्रकारसे संन्यास कर सकता है, जो हर तरहसे भगवान्‌का ही हो गया है,

जो निरन्तर भगवद्-ध्यान करते-करते भगवान्‌का मानों निवास-स्थान ही बन गया है। जिसकी दौड़ अपने एक ही प्राणप्रिय लक्ष्य-तक है, वही 'तद्भाव-लीन' अनन्य भक्त अपने अखिल कर्मोंको ईश्वरार्पित कर सकता है। अर्पित क्या करता है उसकी प्रत्येक क्रिया होती ही है ईश्वर-प्रेरित। कर्तृत्वबुद्धि ही तो पतन-कारिणी है। हमारी तो यही निरन्तर धारणा रहनी चाहिए, कि जो कुछ भी हमारे द्वारा हो रहा है, वह सब प्यारे कृष्णके ही लिए हो रहा है; हमें इसकी ख़बर भी नहीं, कि इन कर्मोंका कौन कर्ता है और क्या इनका फल होगा। कर्मोंको कृष्णार्पण करते-करते ही अहङ्कारका समूल नाश होगा। 'तू-तू' करते हुए 'मैं' भी 'तू' में तल्लीन हो जायगा। महात्मा कबीरकी एक साखी है—

तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझमें रही न हूँ।
वारी तेरे प्रेम पर, जित देखूँ तित तूँ॥

जिसने अपने 'मैं' को प्यारे 'तू' में घुला-मिला दिया, वही प्यारी तल्लीनताका मधुर रस पियेगा, तन्मयताका मीठा मज़ा लूटेगा। जब हमीं कृष्णके हो गए, तब हमारे सारे कर्म तो 'कृष्णार्पित' हो ही चुके। किन्तु यह भगवत्-परायणता अनन्य योगसे ही प्राप्त होती है। जो केवल अनन्य गतिसे भगवान्‌का निरन्तर ध्यान किया करता है, वही तन्मयताकी अनिर्वचनीय अवस्थाको पहुँच सकता है। ऐसे अनन्य भक्तोंके योग और क्षेमको भगवान् स्वयं वहन करते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

अनन्य भावनासे सर्वत्र केवल परमात्माको ही जो देखता है, वही सच्चा भक्त है । जो स्वयं उस परम दयालु स्वामीके हाथ बिना दाम ही बिक गया है, उसके सब कर्म भी वही प्यारा गाहक खरीद चुका है । उसे करनेको सिर्फ दो ही काम रह जाते हैं— भगवद्ध्यान और लोक-संग्रह । दो क्यों, असलमें देखा जाय तो यह दोनों काम एक ही हैं । भगवान्‌की लोक-कल्याणकारिणी आज्ञाओंका प्रेमपूर्वक पालन करना भी तो भगवद्ध्यान ही है । उस प्राणप्रिय आत्मरमण रामके ध्यानमें लीन हो जानेपर वह अपना आपा भूल जाता है । वह कर्म करता हुआ भी कर्म नहीं करता, संसारमें रहता हुआ भी संसारमें नहीं रहता । उसकी सुरत तो वहीं लगी रहती है, जहाँ उसने अपना मन, अपना हृदय और अपनी आत्मा अर्पित कर दी है । सन्त-शिरोमणि कबीरदासकी एक साखी है—

ज्यों तिरिया पीहर बसै, सुरति रहै पिय माहिं ।
ऐसे जन जगमें रहैं, हरिको भूलत नाहिं ॥

क्यों न भक्तवत्सल भगवान् ऐसे तन्मय भक्तको संसार-सागरसे तुरन्त निकाल कर अपनी शरणमें खींच लें ? ऐसे तदीय जनोंके उद्धारका तो मानो आप ठेका ही ले चुके हैं । भक्तोंके जब समस्त कर्म आपने अपना लिये, तब उनकी चिन्ताएँ कौन लेता, वे भी

आपहीको अपने मत्थे लेनी पड़ीं। कर्म वे करते हैं, उत्तरदायी आप बनते हैं। चिन्ताओंसे और कठिन उत्तरदायित्वसे अपने प्यारे भक्तोंको भगवान् सदाके लिए मुक्त कर चुके हैं। पर यह न समझना चाहिए, कि ऐसा आपने मुफ्त ही किया है। उनके मनको पहले ही आप अपनेमें आवेशित कर चुके हैं। एक हाथमें मन दे दो, दूसरे हाथसे अपना उद्धार करा लो। मुफ्त मन बेचनेवालोंकी तलाशमें आप हमेशा घूमते रहते हैं। महात्मा ज्ञानदेवकी भावपूर्ण वाणीमें भगवान् कहते हैं—

"जन्म-मृत्युकी तरंगोंमें डूबती हुई इस सृष्टिको देखकर मुझे ऐसा मालूम हुआ, कि इस संसार-समुद्रमें किसे डर नहीं लगता? कदाचित् इससे मेरे भक्त भी डर जावें। इसलिये हे पाण्डव! मैं अपनी मूर्तियोंका समुदाय इकट्ठाकर उनके घरपर दौड़ता हुआ आया हूँ। संसारमें हज़ारों नामरूपी नावें तैयारकर मैं उनका तारक बना हूँ। मुझे जो ब्रह्मचारी मिले, उन्हें मैंने ध्यानके मार्गपर लगा दिया। और परिवारवालोंको मैंने इन नावों-पर बैठा दिया है। किसीके पेटसे प्रेमरूपी लंगर बाँधकर मैं सायुज्य-तीरपर ले आया हूँ। अतएव भक्तोंको चिन्ताका कुछ भी कारण नहीं। मैं सर्वदा उनका उद्धार करनेहारा बना हूँ। भक्तोंने जबसे मुझे अपनी चित्तवृत्ति समर्पित कर दी, तभीसे उन्होंने मुझे अपने व्यापारोंमें लगा लिया है।"

तारण-कलामें आप बड़े ही प्रवीण हैं। मालूम होता है,

आपका यह पुश्तैनी पेशा है। कितने भक्त तारे हैं, कुछ ठिकाना? जितने शरणागत जन आपने तारे हैं, शायद उतने आकाशमें तारे भी न होंगे! किसी कविने कहा है—

जेते जन तारे, तेते नभमें न तारे हैं!

तभी तो आपने चटसे यह कह दिया है, कि—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।

किसीका भी मन हाथमें ले लिया और झटसे उसे तार दिया। यह तो आपके बायें हाथका खेल है। उसके किये हुए सारे कर्मोंकी जायदाद भी तो आपहीके हाथ लग जाती है! भाई, है तो रोज़गार फ़ायदेका। तारना कोई ऐसा मुश्किल काम नहीं है, इसके तो आप अभ्यासी हो गये हैं। इस हुनरमें कोई तारीफ़की बात नहीं। हाँ, कभी-कभी कुछ ऐसे ढीठ भक्तोंके तारनेमें आप अवश्य असमञ्जसमें पड़ जाते हैं, जिन्होंने न तो अपना मन ही आपको दिया है और न कर्म ही समर्पित किये हैं, फिर भी उस पार जानेके लिए अड़ जाते हैं। एक सज्जन कहते हैं—

भक्ति ही सों तारौ, तौपै तारिबो तिहारो कहा,
बिना भक्ति तारिहौ, तौ तारिबो तिहारो है।

इन सब बखेड़ोंसे बचनेके लिए ही तो आपको अपनी सुप्रसिद्ध सन्तारिणी-घोषणामें *'मयि संन्यस्य कर्माणि'* और *'मय्यावेशितचेतसाम्'* जैसी कुछ शर्तें रखनी पड़ीं। कोई-न-कोई

शर्त लगाये विना काम भी तो न चल सकता। जहाँ भगवान्ने नष्टमोह अर्जुनसे—

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

कहा है, वहाँ—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

की दो शर्तें भी लगा दी हैं। मूढ़ मनुष्योंसे ये शर्तें भी पूरी न हो सकें, तो फिर उनका दुर्भाग्य ही समझना चाहिए। नाव घाटपर लगी हुई है, मल्लाह भी डाँड़ लिये खड़ा है, अब यह हमारी ही मूढ़ता है, जो जान-मानकर भी समुद्रमें डूब मरें। जब भवसागरसे बाहर निकलनेको हमारा जी ही नहीं चाहता, तब बेचारा समुद्धर्त्ता कर्णधार करे तो क्या करे?

आगे, मन और बुद्धिको भगवत्-स्वरूपमें लगा लेनेके लिए और भी अधिक ज़ोर दिया जा रहा है। कहते हैं—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥८॥

अतएव तू मुझमें ही अपना मन लगा और मुझमें ही अपनी बुद्धिको स्थिर कर। इससे मेरे स्वरूपमें ही तू निवास करेगा, इसमें सन्देह नहीं।

यह तो अब स्पष्ट ही हो गया है, कि मन और कर्मोंको कृष्णार्पित

कर देनेवालोंका उद्धार मृत्युमय संसार-सागरसे भगवान् स्वयं ही कर देते हैं। अतः इस स्वर्ण-सिद्धान्तको व्यवहारमें अवश्य लाना चाहिए। मन और बुद्धिको परमात्माके ही सिपुर्द कर देना चाहिए। इन दोनोंका बीमा ईश्वरके यहाँ करा लेना चाहिए। फिर कोई फिक्र न रहेगी। मन और बुद्धि दोनोंका ही अभिभावक ईश्वर हो जायगा। यदि हम अपनी बुद्धि और अपना मन उस प्यारे धनीके पास धरोहरके रूपमें रख देंगे, तो विना ही सूदके उसकी कृपा-रूपी परम निधि हमें मिल जायगी। मन अपने पास रखते हुए हमें आखिर मिलेगा क्या ? एक जीका जञ्जाल है। मनका पालना बन्दरसे यारी करनी है। पूरा शैतान है यह! कुछ-न-कुछ शैतानी करता ही रहता है। खाली तो कभी बैठता ही नहीं। कहाँतक इसकी रखवाली की जाय ? कौन इसकी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ? नज़र चूकी और कबका यह चम्पत हुआ! विश्रामका तो यह नाम भी नहीं जानता—

कबहूँ मन विश्राम न मान्यो।
निसि-दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख, जहँ-तहँ इन्द्रिन-तान्यो॥

पतङ्गकी तरह उड़ता-फिरता है। इसे प्रेम-जलसे भिगो दें, तो बेशक यह लुञ्ज-पुञ्ज हो जाय और फिर इधर-उधर न उड़ा करे। सन्तवर दादूदयालके मार्मिक शब्दोंमें—

यह मन कागदकी गुड़ी, उड़ि-उड़ि चढ़ी अकास।
'दादू' भीगै प्रेम-जल, आय रहै हम पास॥

पर, इसे अपने पास रखनेमें कोई लाभ नहीं, सम्भव है, यह भीगी हुई पतंग फिर सूख जाय और उड़ने लगे। इसलिए इस मोही मनको तो प्यारे मोहनके ही हाथमें सौंप देना ठीक होगा। वहीं यह स्थिर होगा। वहाँसे भागकर यह जायगा ही कहाँ--

> जब मन लागै राम सों, तब न अनत कहुँ जाय।
> 'दादू' पानी-लून ज्यों, ऐसे रहै समाय॥

अतः भगवान्की *'मय्येव मन आधत्स्व'* इस आज्ञाके अक्षरशः पालन करनेमें ही हमारा परम कल्याण है। चञ्चल चित्तकी रखवाली-की झंझट भी न रहे और भगवान्की अकुतोभय शरण भी प्राप्त हो जाय—बस, यही तो हमें चाहिए। मनसे तो यों छुट्टी मिल गई, अब रही बुद्धि, सो उसे भी परमात्माके ही जिम्मे कर देना चाहिए। भगवान्की आज्ञा भी है, कि *'मयि बुद्धिं निवेशय।'* एक तो हमारे पास शुद्ध बुद्धि है ही नहीं, और थोड़ी-बहुत बुद्धि हुई भी, तो उससे हम अहङ्कारके मदमें अन्धे हो जाते हैं। हम समझने लगते हैं, कि दुनियाभरकी अक्ल हमारे ही हिस्सेमें आ गई है। हम अपनी फ़िलासफ़ीसे ईश्वरको भी चक्करमें डाल देना चाहते हैं। अपने अकाट्य तर्कसे परमेश्वरको भी परास्त कर देनेकी हिम्मत रखते हैं! यह नहीं सोचते, कि—

> क्योंकर दलील देख सके उस जमाल को,
> जिसका ख़याल बर्क़ गिराता है तोश पर।
>
> —अकबर

समझते हैं, कि हमीं तो एक समझदार हैं—

हर एकको ये दावा है, कि हम भी हैं कोई चीज़!

यह अहङ्कार बुरा है। बुद्धिसे तो नम्रता आनी चाहिये। कोई यह न समझ बैठे, कि बुद्धिका तिरस्कार किया जा रहा है। मनुष्य-में बुद्धि ही तो एक चीज़ है। भगवान् कृष्णने गीतामें स्वयं 'बुद्धि-वाद' की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। बुद्धिकी ही शरणमें रहनेका उन्होंने जन-समाजको उपदेश दिया है। अवश्य ही वह बुद्धि होनी चाहिए भगवान्की अनुगामिनी—भगवान्में निश्चयात्मिका। प्रतिक्षण बुद्धिसे ही काम लो, पर उसमें क्षुद्र अहङ्कारका प्रवेश न होने दो, गीताके बुद्धिवादका यही सार है। असलमें देखा जाय, तो बुद्धि और अहङ्कार एक साथ रह ही नहीं सकते, या तो बुद्धि ही रहेगी, या अहङ्कार ही रहेगा। बुद्धि और शीलका मेल है, अहङ्कार और बुद्धिका नहीं। पर भगवान् तो बड़े दयालु हैं, उन्होंने देखा, कि भक्तोंके हृदयमें बुद्धिके साथ-साथ कहीं मिथ्याभिमान न आ जाय, इसलिए उन्हें बुद्धिका उत्तरदायी न बनाना चाहिये। बुद्धिसे वे काम लें, बुद्धिको वे आदर दें, पर उसपर अपना अधिकार न करें, उसे अपनी वस्तु न मान बैठें। भगवान्को जब बुद्धि सौंप दी जायगी, तब अहङ्कार उसका कुछ बिगाड़ न सकेगा। तात्पर्य यह, कि मन और बुद्धिका सर्व स्वत्वाधिकारी एक परमात्मा ही है। किन्तु हम मूढ़जन, संरक्षण-शक्तिके अभावमें भी, मन और बुद्धिको अपनी निजी सम्पत्ति मान रहे हैं! भगवान्ने जब देखा,

कि हमारे उपासकोंके कावूमें न तो मन ही रह सकेगा और न बुद्धि ही, तब उनसे उन्होंने यही कहा—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।

लाओ, रख दो अपना मन मुझमें और अपनी बुद्धि भी मुझमें ही स्थिर कर दो। अब तो कोई झंझट न रही! तुम्हारी प्यारी चीजोंका बीमा हो गया न? तो बस, अब निश्चिन्त रहो। तुम तो सदा अब मेरे ध्यानमें ही मग्न रहा करो। सोचो तो मेरे लिए और कर्म करो तो मेरे लिए। अपने लिए सोचने, समझने या करनेके लिए अब तुम्हारे पास कुछ नहीं रहा। जब तुम मन और बुद्धिको मुझमें लगा दोगे, तब मेरा स्वरूप ही तुम्हारा निवास-स्थान बन जायगा, मेरे हृदयमें प्रवेशका अधिकार तुम्हें आप ही मिल जायगा, इसमें कोई सन्देहकी बात नहीं। प्रिय पार्थ! यह मैं शपथपूर्वक कहता हूँ, कि जिस भक्तने अपना मन-माणिक्य मुझे सौंप दिया, अपनी बुद्धि-मणि मुझे भेंटमें दे दी, उसे मैं अपना ही रूप मान लेता हूँ। वह मेरा हो जाता है और मैं उसका हो जाता हूँ। हम दोनोंमें किञ्चिन्मात्र भी भेद नहीं रह जाता। इसलिए, हे प्यारे सखा! मन और बुद्धिको तुम अब मेरे स्वरूपमें रख ही दो। यदि तुम ऐसा करोगे, तो—

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

यदि एक वार ही सम्पूर्ण मन और सम्पूर्ण बुद्धिको परमात्माके हाथ में सौंप देना कुछ कठिन जान पड़ता है, तो धीरे-धीरे

ही हम इसका अभ्यास करें । अभ्याससे हम क्या नहीं कर सकते ? भगवान् कहते हैं—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥९॥

यदि इस प्रकार तू मुझमें अपना चित्त भलीभाँति स्थिर न कर सके, तो हे धनञ्जय ! अभ्यासकी सहायतासे मुझे प्राप्त कर लेनेकी इच्छा रख ।

यह उपाय तो और भी सुगम है । साधकके लिए अभ्यास-की सहायता एक बड़ी सहायता है । अभ्यास एक बड़ा अवलम्ब है । मन यद्यपि अत्यन्त दुर्निग्रह और चञ्चल है, तथापि अभ्यास-योगसे वह वशमें हो सकता है । अभ्यास और वैराग्यकी सहायतासे वह नामी डाकू गिरफ्त में आ सकता है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

अभ्याससे ही मन अपने अधीन किया जा सकता है और अभ्याससे ही वह ईश्वरमें लगाया जा सकता है । अपनी अगणित असफलताओं और अपूर्णताओंपर ध्यान न देते हुए अपने ध्येय-की ओर धैर्यके साथ बढ़ते जाना दृढ़ अभ्यासीका ही काम है । आरम्भमें, पूर्णतया कहीं चित्त लगा देना सम्भव नहीं । अतः

धीरे-धीरे, क्षणमात्रको ही सही, भगवान्‌में चित्त लगानेका तो हम प्रयत्न कर सकते हैं। कुछ भी न करनेसे तो कुछ करना फिर भी अच्छा है। कहा है—

> एक घड़ी, आधी घड़ी, आधिहुमें पुनि आध।
> 'तुलसी' संगत साधुकी, हरै कोट अपराध॥

अभ्यास करते-करते यदि हम दुर्व्यसनोंमें सफलता प्राप्त कर सकते हैं, तो कोई कारण नहीं, कि उसी अभ्यासके द्वारा हम परमात्माको प्राप्त न कर सकें। हमें किसी प्रकार धैर्य न छोड़ना चाहिए। अधीर होनेकी कोई बात नहीं। कोई परवा नहीं, कि हम एक बार, दो बार या तीन बार या अनेक बार असफल ही हुए, कभी-न-कभी तो सफलता मिलेगी। अभ्यास ज़ारी रहेगा, तो सफलता आकर एक दिन हमारे पैरोंपर लोटेगी। मन वशमें होगा और फिर होगा। अभ्यासयोगसे मन तो है ही क्या, ईश्वरको भी हम अपने वशमें कर सकते हैं। हमें चाहिए, कि अपने प्रयत्नकी मात्रामें कभी कमी न आने दें। यदि हम बराबर प्रयत्न करते जायँगे, तो एक-न-एक दिन ईश्वर-प्राप्ति होकर ही रहेगी। इस जन्ममें नहीं, तो आगेके जन्ममें या उससे भी अगले जन्ममें 'भगवत्-साक्षात्कार' हो ही जायगा। घबरानेका कोई कारण ही नहीं। अपनी अभ्यास-साधनापर धैर्यपूर्वक दृढ़ रहना चाहिए। परमेश्वरका दर्शन अनेक जन्मोंके भी अनन्तर हो, तो भी अपनी कोई हानि नहीं। गीतामें कहा भी है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।

तथैव—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।

फिर निराशाका कोई कारण ही नहीं। अभ्यासयोगसे एक दिन चित्त स्थिर हो ही जायगा, इसमें सन्देह नहीं। बड़ी भारी शक्ति है अभ्याससें—

करत करत अभ्यासके, जड़-मति होत सुजान।
नित-नित रसरीके घिसे, सिलपर बनत निसान ॥

अब यह बताया जायगा, कि किस-किस साधनके अभ्याससे चित्तका निरोध किया जा सकता है और उसके फलस्वरूप भगवत्सान्निध्य प्राप्त हो सकता है। गीताके छठे अध्यायमें कुछ अभ्यास-उपयुक्त मनोनिग्रहकारी साधनोंका निर्देश किया गया है, जैसे—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥

योगी अकेला एकान्तमें रहकर समस्त काम्य वासनाओं और संग्रहको छोड़कर निरन्तर चित्त और आत्माका संयम करे और अपने योगाभ्यासमें लगा रहे; अथवा अपनी आत्माको परमात्माके साथ मिलानेका सतत प्रयत्न करता रहे।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥

पवित्र स्थानपर योगाभ्यासी अपना स्थिर आसन लगावे, जो न बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा; उसपर पहले कुश, फिर मृगचर्म और फिर वस्त्र बिछावे। वहाँ चित्त और इन्द्रियोंको वशमें करके एकाग्र मनसे, आत्मशुद्धिके लिए, आसनपर बैठकर योगका अभ्यास करे।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥

काया अर्थात् पीठ, मस्तक और गर्दन सम रेखामें अचल रखकर स्थिर होता हुआ वह योगाभ्यासी इधर-उधर न देखे और अपने नासिकाग्र, अर्थात् नाककी नोकपर दृष्टि जमाकर निर्भय शान्त अन्तःकरणसे ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन तथा मनका संयम करके मुझमें परायण होता हुआ मेरा ध्यान करे।

उपर्युक्त श्लोकोंमें योगकी साधन-क्रियाका निरूपण किया गया है। इस प्रकारके साधन-योगकी चर्चा उपनिषदोंमें भी आई है। इस साधन-क्रियामें हठयोगका कुछ वर्णन आया है। हठ-योगियोंने इन श्लोकोंका सम्प्रदायपरक अर्थ करके गीतामें हठयोग-को बड़ा महत्त्व दे डाला है। महात्मा ज्ञानदेवजीने हठयोगका

आधार लेकर इनका बड़ा ही मनोरम अर्थ किया है। वह देखने-योग्य है। पर, वास्तवमें यह बात है नहीं। गीतामें हठयोग और अष्टाङ्गयोगका स्वतन्त्र रीतिसे प्रतिपादन नहीं किया गया है। आत्मशुद्धिके लिए किसी सीमातक एकान्तवास, प्राणायाम इत्यादि-की आवश्यकता होती है। पर यह नहीं, कि लोकोपकारी कर्मोंसे पराङ्मुख होकर केवल हठयोग या पतञ्जलिके अष्टाङ्गयोगकी साधन-क्रियाओंमें ही मनुष्य अपना सारा जीवन बिता दे। गीताकारका यह कदापि अभिप्राय नहीं है। लोकमान्य तिलक लिखते हैं—

'इसका यह अर्थ नहीं, कि कर्मयोगको प्राप्त कर लेनेकी इच्छा कर लेनेवाला पुरुष अपनी समस्त आयु पातञ्जलयोगमें ही बिता दे। कर्मयोगके लिए आवश्यक साम्यबुद्धिको प्राप्त करनेके लिए साधन-स्वरूप पातञ्जलयोग इस अध्यायमें वर्णित है; और इतनेहीके लिए एकान्तवास भी आवश्यक है। × × × हठयोगमें इन्द्रियोंका निग्रह बलात्कारसे किया जाता है; पर आगे इसी अध्यायके चौबीसवें श्लोक*में कहा है, कि ऐसा न करके *'मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य'*—मनसे ही इन्द्रियोंको रोके, इससे प्रकट है, कि गीतामें हठयोग विवक्षित नहीं है। ऐसे ही इस अध्यायके अन्तमें कहा है, कि 'इस वर्णनका यह उद्देश नहीं, कि

* संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥

कोई अपनी सारी ज़िन्दगी योगाभ्यासमें ही बिता दे।' इससे अब यह स्पष्ट हो गया, कि हठयोगकी ये साधन-क्रियाएँ केवल मनः-शुद्धिमात्रके लिए निर्दिष्ट की गई हैं। इन्द्रिय-निग्रहके द्वारा मन तो इस प्रकारके अभ्यास-योगसे वशमें हो गया, अब उसे कहीं-न-कहीं लगाना तो होगा ही। यदि वह परमेश्वरके स्वरूप-चिन्तनमें न लगाया गया, तो इन योगकी क्रियाओंसे लाभ ही क्या हुआ? उस योगीका योग किस कामका, जिसने अपना मन भगवान्में न पिरोकर केवल बाहरी चामत्कारिक सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिए जीवनभर व्यर्थ प्रयास किया? नारायणस्वामीने क्या अच्छा कहा है—

> चाहे तू योग करि भृकुटी मध्य ध्यान धरि,
> चाहे नाम-रूप मिथ्या जानिकैं निहारि लै;
> निर्गुन निर्भय निराकार ज्योति व्यापि रही,
> ऐसो तत्त्वज्ञान निज मनमें तू धारि लै।
> 'नारायन' अपनेकों आपुहीं बखान करि,
> 'मोतें वह भिन्न नहीं' या विधि पुकारि लै;
> जौं लौं तोहि नंदको कुमार नाहिं दृष्टि पर्यौ,
> तबलों तू भलें बैठि ब्रह्मकों विचारि लै॥

अतः योगका साफल्य तो भगवत्परायण हो जानेमें ही है। इसी ध्यान-योग नामक अध्यायके अन्तमें लिखा है—

> योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
> श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

सब योगियों—ध्यान-योगियों, अभ्यास-योगियों और कर्म-

योगियोंमें भी उसे ही मैं सबसे श्रेष्ठ योगी मानता हूँ, जो श्रद्धा-पूर्वक मुझमें अपना अन्तःकरण स्थिर कर मुझे भजता है।

भगवच्चित्त और भगवत्परायण होकर श्रद्धापूर्वक जो निरन्तर कर्मयोगकी साधना किया करता है वही सर्वश्रेष्ठ योगी है। जो कर्म भगवत्-विमुख होकर किये जाते हैं वे आसक्तिसे रहित नहीं हो सकते और उनके फलका भी त्याग नहीं किया जा सकता। श्रीगान्धीजीके अनुभूत शब्दोंमें——

"यदि कर्म-फल-त्याग न दिखाई दे, तो अभ्यास वह अभ्यास नहीं है, ज्ञान वह ज्ञान नहीं है और ध्यान वह ध्यान नहीं है।"

सारांश यह, कि अभ्यास-योगकी सहायतासे धीरे-धीरे इन्द्रियोंका निग्रह करके तपःशुद्ध अन्तःकरणको परमप्रभुके प्रेममें लगा देना चाहिए। भगवत्सान्निध्य प्राप्त करनेका यह एक सफल साधन है। यदि इतना भी किये नहीं हो सकता, तो फिर यह और एक उपाय है——

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥१०॥

यदि अभ्यास भी तुझसे न सध सके, तो मुझे पानेके लिए मेरे निमित्त कर्म करता जा। इस प्रकार 'मदर्थ' कर्म करते-करते ही तू सिद्धि पा जायगा, अर्थात् जन्म-मरणसे मुक्त हो जायगा।

अभ्यासके लिए कुछ-न-कुछ बल, धैर्य और साहसकी आवश्यकता तो होती ही है। यदि उतना भी बल हमारे शरीर और मनमें नहीं है, तो भी निराश होनेकी बात नहीं। इन्द्रियोंका निग्रह नहीं हो सकता, न सही, भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिका इससे भी एक सुगम उपाय बतला दिया है। जैसे जो कुछ हम हैं, वहीं बने रहें, जहाँ हैं वहीं रहें, पर जो भी कर्म करें अथवा जो भी भोग भोगें, उनका कर्ता या भोक्ता अपनेको न मानें। कर्ता और भोक्ता तो जगन्नियन्ता परमात्मा है। यह कर्म पूरा हुआ या अधूरा रहा, यह भाव हम अपने चित्तमें न लावें। महात्मा ज्ञानदेवजी कहते हैं—

"अपना जीवन परमात्माका सजातीय कर रक्खो। माली जिस ओर ले जाय, उसी ओर जो चुपचाप चला जाता है उस जलके समान तुम्हारा कर्म होना चाहिए। प्रवृत्ति और निवृत्तिके बोझके नीचे अपनी बुद्धिको न डालो। चित्तवृत्ति मुझमें अखण्डित रक्खो। हे सुभट! रथ क्या इस बातकी खटपट करता है, कि रास्ता सीधा है या आड़ा-टेढ़ा?"

लगाम उसके हाथमें है, जिधर मोड़ेगा उधर जाना है। खाई-खन्दक वह खुद बचा लेगा। सच्चा पथ-प्रदर्शक परमात्मा है, न कि हम। उसे सब रास्तोंका पता है। वह खूब जानता है, कि क्या भला है और क्या बुरा। इससे यही अच्छा है, कि—

'किस्ती खुदा पै छोड़ दें, लङ्गरको तोड़ दें।'

अभी उस दिन, अहिंसात्मक युद्ध आरम्भ करते हुए, महात्मा गान्धीने कहा था, कि 'इस महासमरका सञ्चालक मैं नहीं, किन्तु परमात्मा है।' किस कामके करनेमें तो हमें सफलता मिलेगी और किसके करनेमें असफलता, इसे विश्वाभिनयका वह अनादि सूत्रधार ही जानता है, हम नहीं। हमें तो कुछ-न-कुछ काम उसके लिए करना है, आगे क्या होगा क्या न होगा, यह सब वह जाने। हमारा मतलब तो दुनियाके काम करनेसे है, दुनियासे दिल लगानेसे नहीं। आसक्त हुए, कि धड़ामसे गिरे। मज़ा मान लेंगे, तो सज़ा भी हमीं काटेंगे। महाकवि अकबरने क्या अच्छा कहा है—

> मज़ा भी आता है दुनियासे दिल लगानेमें ;
> सज़ा भी मिलती है दुनियासे दिल लगानेकी।

जो मज़ा लेनेकी गरज़से कर्म करेगा वह गढ़ेमें तो गिरेगा ही, क्योंकि वह कर्म ईश्वरके लिए नहीं, बल्कि अपने लिए किया गया है। इसके प्रतिकूल, जो कर्म कृष्णार्थ किये जाते हैं वे जन्म-मरणके कारण नहीं, किन्तु मोक्षके कारण होते हैं। अतएव यदि हम अभ्यास-योगके भी योग्य नहीं हैं, तो हम अपने समस्त कर्म कृष्णार्थ ही करते जायँ—इसी साधनके द्वारा हमें परमसिद्धि प्राप्त हो जायगी। भगवान् कैसे प्रेमपूर्ण शब्दोंमें भरोसा दे रहे हैं—

> मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।

और, यदि इतना भी न करते बना तो ? और भी उपाय है।

भगवान् बड़े दयालु हैं । वह अपने प्रिय जनोंको संसार-सागरमें निमग्न देख ही नहीं सकते । वह तो किसी-न-किसी तरह उनका तुरन्त उद्धार करके ही रहेंगे । एक उपायसे न सही, दूसरेसे, दूसरेसे भी न सही, तो तीसरेसे—मतलब यह, कि जिस उपायसे होगा उससे अपने प्यारे भक्तोंका उद्धार तो वह तत्काल करेंगे ही । अच्छी बात है, ईश्वरार्थ कर्म नहीं किये जा सकते, तो इतना तो कर सकेंगे—

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

इसके करनेमें भी यदि तू असमर्थ हो, मेरे निमित्त कर्म भी न कर सकता हो, तो उद्योगपूर्वक धीरे-धीरे चित्त-वृत्तियोंको रोकता हुआ अन्तमें सब कर्मोंका फल-त्याग कर दे ।

कर्म-फल-त्यागके द्वारा हम निश्चयपूर्वक परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं । कर्म-फलकी आशासे ही तो हमारा अन्तःकरण शुद्ध नहीं हो पाता । मानव-प्रकृति फलके लोभमें कैसी बँधी हुई है ! बिना ही कुछ किये जब हम फल-प्राप्तिकी आशामें अधर टँगे रहते हैं, तब अपने कर्मोंका पुरस्कार हम पहलेसे ही चाहेंगे । स्वभाव ही हमारा कुछ ऐसा है । काम्य-वासनाओंने हमें कहींका भी नहीं रक्खा है । कुछ ऐसी मलिन-प्रकृति हो गई है, कि फलासक्तिके बिना हम कोई कर्म कर ही नहीं सकते । तभी तो हमारा घोर पतन

हो रहा है। निरन्तर परिणामकी बात सोचते रहनेसे हम मार्ग-भ्रष्ट हो गये हैं। चित्त एक समयमें एक ही लक्ष्यपर लग सकता है। या तो कर्त्तव्यमें ही उसे लगा लें, या कर्मफलमें ही उसे आसक्त कर लें। हमारा अधिकार तो केवल कर्ममें है, उसके फलमें नहीं है। भगवान्ने इसे स्पष्ट कर दिया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

फलके विषयमें सोचनेका अधिकार तो केवल ईश्वरको है। सो, उसका अधिकार भी हम आज छीन लेना चाहते हैं! अब कैसे हमारा कल्याण हो? कार्य कर्म छोड़नेको तो हम तुरन्त तैयार हो जाते हैं, पर कर्म-फल छोड़नेको स्वप्नमें भी हमारा जी नहीं चाहता! कैसी विमूढ़ता है! महात्मा गान्धी, अनासक्तियोगमें लिखते हैं—

'जो कर्म छोड़ता है, वह गिरता है। जो कर्म करते हुए भी उसका फल छोड़ता है, चढ़ता है। यहाँ फल-त्यागका अर्थ कोई यह न समझे, कि त्यागीको फल नहीं मिलता। फल-त्यागसे मतलब है 'फलके सम्बन्धमें आसक्तिका अभाव'। वास्तवमें, फल-त्यागीको तो सहस्र गुण फल मिलता है। गीताके फल-त्यागमें तो असीम श्रद्धाकी परीक्षा है। जो मनुष्य परिणामकी बात सोचता रहता है, वह अनेक बार कर्म—कर्तव्य-भ्रष्ट हो जाता है। उसे अधीरता आती है, इससे वह क्रोधके वश हो जाता है, और फिर वह न

करने-योग्य भी करने लगता है, एक कर्मसे दूसरेमें और दूसरेसे तीसरेमें प्रवृत्त हो जाता है। परिणामका चिन्तन करनेवालेकी स्थिति विषयान्धकी-सी हो जाती है, और अन्तमें वह विषयीकी भाँति सारासारका, नीति-अनीतिका विवेक छोड़ देता है, और फल प्राप्त करनेके लिए चाहे जैसे साधनोंसे काम लेता है तथा उसे ही धर्म मानता है।'

फलाशा करनेवालेकी ऐसी दुर्गति होती है। जो फलकी आशासे कर्म करेगा, उसे भगवत्प्राप्ति कभी होनेकी नहीं। वासना और उपासना एक साथ नहीं चल सकतीं। चाहे रामको रिझा लो, चाहे कामको। दोनोंको एक साथ नहीं रिझा सकते—

जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम।
दोनों कबहूँ ना मिलैं, रवि-रजनी इक ठाम॥

यह तो साफ़ बात है, कि जब हम ईश्वरकी उपासना किसी कामनाकी पूर्तिके लिए करते हैं, तो उस समय हमारा ध्यान मुख्य रीतिसे उस कामनापर ही रहता है। दूसरे शब्दोंमें, अपनी कामनाको हम ईश्वरसे भी अधिक महत्व दे देते हैं। आजकी हमारी सारी साधनाएँ सकाम ही तो हैं। किसी देव-स्तोत्रके अन्तमें यदि यथेच्छ फल-प्राप्तिके दो-चार मनोरम श्लोक विद्यमान न हों तो पाठ करना तो दूर उसे कोई छुए भी नहीं। किसी भी स्तोत्रको उठा लें, अन्तमें जरूर ही कुछ ऐसे प्रलोभनकारी रोचक श्लोक मिलेंगे, जिनमें पुत्र-पौत्र-राज्यैश्वर्य-वर्धक सुन्दर शब्दोंका समावेश होगा। रामायण और

गीता-जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थों तकको हम ऐसे ही प्रलोभनोंसे पढ़ा करते हैं! रामायणसे पुरश्चरण तक होते हैं। गोसाईंजीने रचना तो की थी रामचरित-मानसकी 'स्वान्तः सुख' के लिए और उसके पाठ होने लगे आज मारण-मोहन-उच्चाटन आदि षट् महाप्रयोगोंकी सिद्धिके लिए! उपासना-काण्ड आज इस दुरवस्थाको पहुँच गया है। यह कर्म-फलाशाकी ही मायामयी महिमा है!

भगवान्‌ने इसीसे, गीतामें, पद-पदपर, अनासक्ति अर्थात् कर्म-फल-त्यागपर ज़ोर दिया है। फलेच्छुक मनुष्य लोकोपकारी कर्म कैसे कर सकता है? जो स्वयं ही किसी लोभमें बँधा हुआ है, वह संसारका क्या हित-साधन करेगा? भिक्षुक भी क्या किसीको कुछ दे सकता है? सकाम सेवा किस कामकी? फलकी आशासे जो हम सेवा करते हैं, वह निष्फल ही जाती है। सन्त-वर कबीरकी दो साखियाँ हैं—

> जब लगि भक्ति सकाम है, तब लगि निष्फल सेव।
> कह 'कबीर', वह क्यों मिलै, निष्कामी निज देव॥
> जब मन लागा लोभसे, गया विषयमें भोय।
> कहै 'कबीर' विचारिकैं, कस भक्ती घन होय॥

भगवान्‌के सच्चे भक्तोंने सदा निष्काम भक्तिहीकी साधना की है। उन्होंने कभी फलकी आशा नहीं की। उन्होंने अपने प्राण-प्रिय इष्टदेवसे कभी कुछ माँगा नहीं। उन्हें माँगनेको रह ही क्या जाता है। उन्हें वह वस्तु मिल जाती है, जिसके आगे कोई

अन्य लाभ अधिक नहीं जँचता, जिसे पाकर फिर कुछ पानेको नहीं रह जाता—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।

सौ बातकी बात यह है, कि फलाशाका त्याग किये बिना हमें परमात्माकी शरण मिल नहीं सकती । और फलकी कौन कहे, कर्मोंतकका परित्याग कर दें तो ? यह तो दम्भ होगा । कर्म तो किसी भी प्रकार नहीं छूट सकते । कुछ-न-कुछ कर्म तो शरीर-यात्राके लिये करने ही होंगे । फिर लोक-हित-कारी कर्मोंसे ही हमारा ऐसा क्या वैर है ? इससे तो और भी पतन होगा । कर्म-संन्यासकी भगवान्ने कब आज्ञा दी है । अतएव कर्तव्य-कर्मोंका नहीं, किन्तु उन कर्मोंकी आसक्तिका अर्थात् फलाशाका ही त्याग करना चाहिए । इसीमें हमारा श्रेय है । अनासक्ति ही कर्म-योगियोंकी आधार-शक्ति है । फल-त्यागसे ही कर्म-योगकी श्रेष्ठता प्रमाणित होती है ।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान अधिक अच्छा है । ज्ञानसे ध्यानकी योग्यता अधिक है, और ध्यानसे भी कर्म-फल-त्याग श्रेष्ठ है । क्योंकि इस त्यागसे तत्काल ही शान्ति प्राप्त होती है ।

भगवत्प्राप्तिके जितने कुछ उपाय हैं, उनका यहाँ सिंहावलोकन किया गया है। पिछले श्लोकमें यह बतलाया गया है, कि हम यदि अभ्यास, ज्ञान, ध्यान आदि सभी साधनोंके सिद्ध करनेमें असमर्थ हों, तो केवल कर्मफलका त्याग ही हम कर दिया करें; इसीसे हमें ईश्वर-प्राप्ति हो जायगी। तात्पर्य यह है, कि कर्म-फल-त्याग सबसे सुगम उपाय है। परन्तु इस बारहवें श्लोकमें यह सबसे अधिक सुगम उपाय ही सर्वश्रेष्ठ साधन निश्चित किया गया है, क्योंकि इस प्रकार भगवच्चित्त होकर ज्ञानपूर्वक कर्म-फल-त्याग करनेमें भक्ति, ज्ञान और कर्मका सुन्दर समन्वय देखनेमें आता है। इस प्रकारके त्यागको हम ज्ञानयुक्त भक्तिमय कर्ममार्ग कह सकते हैं। इससे तत्काल ही परम-शान्ति प्राप्त हो जाती है। किसी-किसी टीकाकारने इस श्लोकमें आये हुए कर्म-फल-त्यागका यह अर्थ किया है, कि यह मामूली कर्मफलोंका त्याग नहीं, किन्तु मोक्षका त्याग है; अर्थात् कर्मयोगको अपेक्षाकृत हीन दिखानेका प्रयत्न किया गया है। यह युक्तिसंगत हो सकता है कि सामान्य कर्मफल ही नहीं, बल्कि मोक्षका भी जो भक्त त्याग कर देता है, उसे तत्काल ही परमशान्ति प्राप्त हो जाती है। सामान्य हों अथवा असामान्य, सभी प्रकारके कर्मोंके फल-त्यागसे ही गीताकारका अभिप्राय है। कोई भी कर्म हो—यहाँतक कि मोक्षका साधन भी हो—उसमें हमारी आसक्ति न होनी चाहिए, क्योंकि आसक्ति ही बन्धनका कारण है।

इस अनासक्तिमें ही तो भगवद्गीताका विश्व-सन्देश अन्तर्निहित

हैं। अतएव इस शब्दके अर्थमें खींचतान करनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं। कर्मफल-त्यागका अर्थ कर्मफल-त्याग ही है।

अभ्यास हो अथवा ज्ञान, ध्यान हो अथवा कर्मार्पण या कर्मफल-त्याग, भगवच्चित्त होना तो इन सभी साधनोंमें व्यापकरूपेण विद्यमान है। इन उपायोंसे यदि परमात्मामें चित्त नहीं लग रहा है, तो सबके-सब व्यर्थ हैं। यह बात नहीं है, कि मन एक ही दिनमें परमात्मामें लग जायगा या समस्त कर्मोंके फलोंका एकदम ही त्याग हो जायगा। नहीं, धैर्यपूर्वक, धीरे-धीरे उपर्युक्त साधनोंके द्वारा हमें भगवच्चित्त और अनासक्त होना होगा, यही भगवान् श्रीकृष्णका निश्चित आदेश है। भगवत्-प्रेरणा और भगवदाज्ञानुसार लोक-संग्रहके अर्थ आसक्ति-रहित कर्मोंका करना ही हमारा परमधर्म है। हमारा अभ्यास हो, तो वह लोक कल्याणकारी कर्मोंका ही अभ्यास हो, हमारा ध्यान हो, तो वह वासुदेवमय विश्वके हित-चिन्तनका ही ध्यान हो और हमारा ज्ञान हो तो वह भी *'इदं सर्वमात्मैव'* की भावनासे भरा हुआ लोक-श्रेयस्कर ज्ञान हो। सबसे अच्छा तो यह है, कि हम अपने अखिल कर्म 'कृष्णार्पण-बुद्धि, से ही किया करें, फिर चाहे वे कर्म शरीरसे किये गये हों अथवा वाणीसे या मनसे ही। श्रीमद्भागवतमें एक श्लोक आया है—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतस्वभावात् ।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥

शरीर, वचन, मन, इन्द्रिय और बुद्धिसे अथवा आत्माकी प्रवृत्ति या प्रकृतिके अनुसरणसे जो कुछ भी किया जाय वह सब परब्रह्म नारायणको समर्पित कर दिया जाय ।

ब्रह्मार्पण बुद्धिसे किया गया कर्म जन्म-मरणका कारण नहीं होता । वह तो भुने हुए बीजके समान होता है, जो बोनेपर जम नहीं सकता । यही दर्जा उसका है जो अपने कर्मोंका फल छोड़ देता है । अनासक्तिकी भावना दोनोंमें ही व्यापक रूपसे मिलती है, चाहे ब्रह्मार्पणबुद्धिसे कर्म किया जाय चाहे कर्मोंका फल छोड़ दिया जाय । यह भक्तिमय अनासक्ति योग ही सर्वश्रेष्ठ योग है । महात्मा ज्ञानदेवजी इस योगकी महत्ता दिखाते हुए कहते हैं—

'कन्याके विषयमें जैसे पिता निष्काम होता है वैसे ही सम्पूर्ण कर्मोंके विषयमें निरभिलाष हो जाओ । अग्निकी ज्वाला जैसे आकाशमें वृथा जाती है, वैसे ही अपनी सब क्रियाएँ शून्यमें विलीन होने दो । हे अर्जुन ! यह फल-त्याग सुलभ तो मालूम देता है, परन्तु है यह योग सब योगोंमें श्रेष्ठ ।'

यदि हमें भक्तिपथका पथिक बनना है, तो हमारा प्रत्येक कार्य-क्रम आसक्तिरहित और कृष्णार्पण-बुद्धिसे ही किया हुआ होना चाहिये। लोकसेवासे बढ़कर ईश्वर-प्रीत्यर्थ कर्म और कौन हो सकता है? चाहे कोई अव्यक्त-उपासक हो, चाहे व्यक्त-उपासक, भगवन्निर्दिष्ट लोकहितके निमित्त ब्रह्मार्पणबुद्धिसे प्रेम-पूर्वक अनासक्त कर्म तो उसे जीवनभर करने ही होंगे। इस भाँति जो कर्म किये जायँगे वे कैसे होंगे, इसके कहनेकी आवश्यकता नहीं। केवल इतना ही कहा जा सकता है, कि उनमें पाप-वासनाके लिये तनिक भी स्थान न होगा, अतः तत्काल ही उनके द्वारा हमें परम शान्ति प्राप्त हो जायगी। धन्य है इस त्याग-मार्गको! धन्य है गीताके इस महान् सन्देशको!

त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।

द्वितीय खण्ड

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

द्वितीय खण्ड

यहाँ तक, इस अध्यायमें, इन बातोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है कि व्यक्तोपासना सुलभ और सुकर है, तथा अव्यक्तोपासना अपेक्षाकृत दुर्लभ एवं क्लेशकर, और भगवान्में चित्त लगानेके अभ्यास, ध्यान, ज्ञान आदि उपायोंके होते हुए भी ज्ञानयुक्त भक्तिमय कर्मफल-त्याग ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। अब यहाँसे जिन्हें भगवत्प्राप्ति हो चुकी है उन परम भक्तोंके, उन सिद्ध महापुरुषोंके लक्षणोंका सुन्दर निरूपण किया जायगा।

भगवान् प्रेम-स्वरूप तो हैं ही। प्यार करना उनका अप्राकृत दिव्य गुण है। अपने भक्तोंको 'प्रिय' कहे बिना उन्हें चैन नहीं पड़ता। यद्यपि भक्त, भक्तिकी पराकाष्ठाको पहुँचकर, स्वयं भगवद्रूप हो जाता है, तथापि प्रेमानन्दका अनुभव लेने तथा संसारको प्रेम-सुधा पिलानेके लिये वह भगवान्के साथ एवं लीलाविहारी भगवान् अपने प्रेम-माधुर्यकी अभिव्यक्तिके अर्थ उसके साथ 'द्वैतभाव' ही स्थिर रखना पसन्द करते हैं। कहते हैं—

'जो 'सोऽहं' भावमें अटके हुए हैं, जो मोक्ष-सुखके लिये दीन हो रहे हैं उनकी दृष्टिका कलङ्क अपने-जैसे भक्तके प्रेमको न लगने दो। कदाचित् भक्तका अहंभाव चला जाय और वह

मद्रूप हो जाय, तो फिर हम अकेले क्या करेंगे ? फिर ऐसा कौन रहेगा, जिसे देखकर हमारी दृष्टि जुड़ावे अथवा जिससे हम मनमाना वार्तालाप कर सकें अथवा जिसे दृढ़ आलिङ्गन दे सकें ?'

—ज्ञानेश्वरी ।

वैसे अध्यात्मदृष्टिसे तो भगवान्को सभी जीव प्यारे हैं, किन्तु भक्ति-दृष्टिसे भक्त विशेष प्रिय हैं। अनासक्त भक्त तो मानों भगवान्का प्राण ही है। ऐसे प्राणप्रिय भक्तके क्या लक्षण हैं, इनका सुमधुर वर्णन भगवान् पार्थसारथि निम्न श्लोकोंमें करेंगे—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

जिसने परमशान्ति प्राप्त करली है, मेरा वह प्रिय भक्त प्राणीमात्रके प्रति द्वेषभावसे रहित, सबका निःस्वार्थ मित्र, परम दयालु और ममताशून्य तथा अहङ्कार-विहीन होता है। वह सुख तथा दुःखमें समान और अपराध करनेवालेको भी क्षमा-दान देनेवाला होता है।

वह अद्वेष्टा होता है, अर्थात् वह किसी भी जीवके प्रति द्वेष-भाव नहीं रखता। वह किसीको अपनेसे भिन्न नहीं समझता, अतः सबको आत्मीय ही मानता है। वह अपने प्यारे कृष्णको चराचर जगत्में देखता है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥

अपने हृदयमें जो यह भेद नहीं रखता, कि मैं भिन्न हूँ भगवान् भिन्न हैं और सब जीव भिन्न हैं, किन्तु जो सब प्राणियोंमें यह बुद्धि रखता है कि मैं और भगवान् दोनों एक हैं। अतः सब जीव भगवान्में और मुझमें भी हैं, वही सब भागवतोंमें उत्तम है। ऐसे श्रेष्ठ भगवत्-भक्तका किसके प्रति द्वेषभाव रह सकता है? यदि कोई किसीके साथ द्वेष करता है, तो इसका यह अर्थ हुआ, कि वह मूढ़ स्वयं अपने ही साथ द्वेष करता है, साथ ही भगवान्के प्रति भी वैर-भाव रखता है। अतः द्वेष-राहित्य तो भक्तका पहला लक्षण है। स्थितप्रज्ञ तथा गुणातीतके लक्षणोंमें भी 'न द्वेष्टि' पद आया है। जिसके मनमें द्वेषभावका अंश बना हुआ है वह न तो भक्त ही कहा जा सकता है और न 'स्थितप्रज्ञ' या 'गुणातीत' ही। भगवद्भक्त द्वेषी नहीं, किन्तु सहिष्णु होता है। वह मन्दिरको मस्तक झुकाता है, तो मसजिदको हिकारतकी नज़रसे नहीं देखता। वह तो अकबरके स्वरमें स्वर मिलाकर कहता है—

आता है वज्द मुझको हर दीनकी अदा पर;
मस्जिदमें नाचता हूँ नाकूसकी सदा पर।

वह *'न गच्छेत्-जैन-मन्दिरम्'* जैसी तुच्छी बातोंका माननेवाला नहीं होता। उसके सरस हृदयकी उदारताकी कोई सीमा नहीं। उसके दिलमें प्यार-ही-प्यार भरा हुआ होता है, द्वेषका

तो वहाँ लेश भी नहीं होता। वह दुनियाको अपने ही प्रेमके रंगमें रँगी हुई देखता है। उसे हर कोई प्यारा ही नज़र आता है। किसीके साथ उसकी शत्रुता हो ही नहीं सकती; उसे अजात-शत्रु कहना चाहिये। उसकी सहज मैत्रीका कुछ पार! प्राणीमात्र-के साथ उसकी निःस्वार्थ मैत्री होती है। जिसने जगन्मित्रको अपना मित्र बना लिया, उसका शत्रु कौन हो सकता है? जहाँ अवाध गतिसे करुणाकी धारा बहती रहती हो, वहाँ द्वेषभाव कैसे टिक सकता है? दयालु स्वामीका सेवक भी दयालु ही होता है। उसकी दया हेतु-रहित और जीवमात्रके लिये होती है। ज्ञानदेवजी कहते हैं—

'जल जैसे ऐसा करना नहीं जानता, कि गायकी तो तृषा बुझा दे और विष बनकर व्याघ्रका नाश कर दे, वैसे ही उसकी प्राणीमात्रसे समान ही मैत्री होती है। वह स्वयं करुणा और कृपाका आधारभूत होता है।'

भक्तके हृदयमें ममता नहीं होती है। जब उसकी किसी ऐहिक वस्तुमें आसक्ति ही नहीं रही है, तब ममता कहाँसे होगी? भक्तकी ममता तो एक भगवान्‌तक है। भगवान् ही उसकी एक-मात्र सम्पत्ति हैं अतः उन्हींमें उसका ममत्व है, उन्हींमें उसका सत्व है। जो मायाके अधीन है, उसीमें ममता होगी, किन्तु जो मायासे स्वाधीन हो गया है उसके हृदयमें ममताका लेश भी नहीं रहता। वह स्वभावसे ही निर्मम होता है।

उसमें अहङ्कार भी नहीं होता। जब 'मेरापन' चला गया तब 'मैं पना' भी जाता रहा। जो अपनेको किसी कर्मका कर्ता और भोक्ता ही नहीं समझता, उसमें अहङ्कार काहेका? वह तो ममता और अहंता दोनोंको प्रभुके अर्पण कर निश्चिन्त हो जाता है वह सदा आनन्द और शान्त होता है। अहङ्कारीको शान्ति और आनन्द कहाँ?

जहँ आपा तहँ आपदा, जहँ संसय तहँ सोग।

—कबीर

जब 'आप' और 'आपदा' में ऐसा सहोदर-स्नेह है तब दयाभाव कहाँसे आयगा? इससे—

यह आपा तू डारि दे, दया करै सब लोग।

—कबीर

जिसने अपने अभिमानको लात मार दी, उसके आगे इन्द्र भी क्या चीज़ है—

सधन सगुन सधरम सगन, सबल सुसाइँ महीप।
'तुलसी' जे अभिमान-बिन, ते त्रिभुवनके दीप॥

सुख और दुःखको परमात्माका प्रिय भक्त समान समझता है। स्थितप्रज्ञकी परिभाषामें भी भगवान्‌ने सुख-दुःख-समत्वपर कहा है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।

दुःख आनेपर न वह घबराता है, और न सुखमें उसकी आसक्ति होती है। इसी प्रकार गुणातीतको भी 'समदुःखसुखः' कहा है। दुःखमें घबराना कैसा ? वह भी तो भगवान्‌का ही एक दया-दान है। युधिष्ठिरने तो दुःखका स्वागत किया था और कुन्तीने भगवान्‌से दुःखका वरदान माँगा था। एक सहृदय भक्त अपने प्यारे अतिथि दुःखको आदर देता हुआ, भगवान्‌से कहता है—

तुम बिन एती को करै, कृपा जु मेरे नाथ।
मोहि अंकको जानि कै, करि दीन्हीं दुख साथ॥

सुख और दुःख दोनों उसी मालिकके प्यारे दूत हैं। दोनों ही उसका गूढ़ सँदेशा लेकर आया करते हैं। जो सुखमें भूलकर अपना ध्येय छोड़ बैठता है, या दुःखमें घबराकर सात्त्विक धैर्यका त्याग कर देता है, वह भक्त नहीं, विषयी है। सन्त तो सुधीर होता है अधीर नहीं।

फिर वह अतल क्षमावान् होता है। अपराधीको भी अभय-दान देता है। इसीमें तो भक्तकी महत्ता है। दूसरोंको क्षमा न देकर जो स्वयं भगवान्‌से क्षमाकी याचना करता है, वह दास नहीं, दम्भी है। हम अकिञ्चनोंके पास क्षमा ही तो एक दानकी निधि है। पहले हम स्वयं अपना तो न्याय कर लें, तब दूसरोंको न्यायके नामपर दण्ड देनेके लिये अस्त्र उठावें। क्षमा क्या कोई

मामूली हथियार है ? क्षमाकी मारसे कौन बच सकता है ? कहा है—

> क्षमा बड़ेनको चाहिए, छोटेनको उतपात।
> कहा विष्णुको घटि गयो जो भृगु मारी लात॥
>
> —रहीम

सारांश यह, कि जो पुरुष अद्वेष्टा है, वही प्राणीमात्रका मित्र, करुणामय, ममता-रहित, अहङ्कारशून्य, सुख-दुःखको समान माननेवाला और क्षमावान् है। इस श्लोकके आदिका अद्वेष्टा शब्द, वास्तवमें, बड़े महत्त्वका है। इसमें सन्देह नहीं, कि द्वेषसे ही हमारा घोर पतन होता है जिसमें न तो राग है और न द्वेष है, वही सच्चा सन्त है। गुसाईंजीने क्या अच्छा कहा है—

> सोइ पंडित सोइ पारखी, सोई सन्त सुजान।
> सोई सूर सचेत सो, सोई सुभट प्रमान॥
> सोइ ज्ञानी सोइ गुनीजन, सोई दाता ध्यानि।
> 'तुलसी' जाके चित भई, राग-द्वेषकी हानि॥

और द्वेष करे भी तो किसके साथ ?

> किससों बैरी है रह्या, दूजा कोई नाहिं।
> जिसके अँगते ऊपजा, सोई है सब माँहिं॥
>
> —दादूदयाल

अतः अद्वेष्टा होनेमें ही अपना परम कल्याण है।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

जो सदैव सन्तोषी, सुसंयमी और दृढनिश्चयी है, जिसने अपनी मति और अपना मन मुझे अर्पित कर दिया है वह योग-युक्त भक्त मुझे अतिशय प्रिय है ।

भगवान्‌का अनन्य भक्त, बिना ही किसी उपचारके, सदा सन्तुष्ट रहा करता है । स्वभावसे ही वह सन्तोषी होता है । जब सबके आधार, सबके कारण अनन्त परमनिधि भगवान् ही उसके हो गये तब वह किस वस्तुकी कामना करे ? उसके पास क्या नहीं है, वह तो शाहोंका भी शाह है—

चाह गयी चिन्ता मिटी मनुआ बेपरवाह ।
जिनको कछू न चाहिए, सोई शाहंशाह ॥

—कबीर

सन्तोष-धनके आगे सभी धन धूलके समान हैं—

गो-धन गज-धन बाजि-धन, और रतन-धन-खान ।
जब आवै सन्तोष-धन, सब धन धूरि समान ॥

—कबीर

किन्तु सन्तोषका अर्थ अनुद्योग नहीं है । उद्योगहीन अजगरको हम सन्तोषी सन्त नहीं कह सकते । कर्मके फलोंमें असीम आसक्ति और तरल तृष्णाका आत्यन्तिक अभाव ही

सन्तोष है। आलसीके सन्तोष और बूढ़ेके ब्रह्मचर्यमें कोई बड़ा अन्तर नहीं है। उद्योगी होते हुए भी जो तृष्णा और फलाशाका दास नहीं है, वही सच्चा सन्तोषी है। वासनाओंका नाश ऐसे ही 'सन्तोषास्त्र' से होता है। जबतक हृदयमें कामनाओंका अस्तित्व है, तबतक सुख-शान्ति कहाँ ?

> बिनु सन्तोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं ॥

और भी—

> कोउ विश्राम कि पाव, तात सहज सन्तोष बिनु।
> चलै कि जल बिनु नाव, कोटि जतन पचि-पचि मरिय ॥
>
> —तुलसी

वह संयमी होता है। जो वासनाओंका दास है, जिसकी इन्द्रियाँ स्वेच्छाचारिणी हैं, जिसका अपने आहार-विहारपर नियन्त्रण नहीं है या जो निग्रहका नामतक नहीं जानता, वह भक्तियोगका अधिकारी नहीं। भक्तको संयमी होना ही पड़ेगा। यह अर्थका भारी अनर्थ होगा, यदि हम गीतासे इसप्रकार अपना मतलब निकालनेका प्रयत्न करें, कि चाहे जो भोग भोगते जायँ उनसे अलिप्त रहेंगे, अतः संयमकी आवश्यकता ही क्या है, क्योंकि अपने कर्म तो हम ब्रह्मार्पित ही कर दिया करते हैं ! इसी प्रकार *'न हन्यते हन्यमाने शरीरे'* की ओट लेकर कतिपय गीता-प्रेमी (!) मनमानी जीवहिंसा करनेका समर्थन किया करते हैं।

यह गीताके उच्च सिद्धान्तोंका बड़ा उत्तम दुरुपयोग है। जो कर्म 'ब्रह्मार्पण-बुद्धि' से किये जायँगे, वे वस्तुतः त्यागपूर्ण, संयममय और विश्व-हितकर ही होंगे। असंयतता और उच्छृङ्खलताके लिए गीतामें स्थान नहीं है। अतः साधकके लिए संयम ही आदि व्रत है। बिना इसके वह भक्ति-मार्गमें सिद्धि पा नहीं सकता। जो संयमी है, वही दृढ़निश्चयी हो सकता है। इन्द्रिय-निग्रहीकी प्रतिज्ञाको कौन तोड़ सकता है? वह जो भी निश्चय करता है उसे करके ही छोड़ता है। भीष्मके दृढ़ निश्चयका रहस्य उनके कठोर संयममें ही खोला जा सकता है। क्या ही वज्र-प्रतिज्ञा है यह पितामहकी !

आजु जौ हरिहि न शस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गंगा जननीकों, सान्तनु-सुत न कहाऊँ॥
स्यन्दन खंडि, महारथ खंडौ, कपिध्वज-सहित डुलाऊँ।
इती न करौं सपथ मोहिं हरिकी, छत्रिय-गतिहि न पाऊँ॥
पांडव-दल सनमुख है धाऊं, सरिता रुधिर बहाऊँ।
'सूरदास' रन-भूमि विजय बिनु, जियत न पीठ दिखाऊँ॥

उनके दृढ़ निश्चयसे उन्हें कौन डिगा सका ? उलटे उनके प्रणके आगे भक्त-वत्सल भगवान्‌को स्वयं अपना ही प्रण भंग करना पड़ा। भीष्म कहते हैं—

जिन गोपाल मेरौ प्रन राख्यौ मेटि बेदकी कानि।

संयमीके सत्यात्मक सुदृढ़ निश्चयके आगे औरकी तो बात

ही क्या, स्वयं परमात्माको भी झुकना पड़ता है । साहसके साथ एक बार निश्चय कर लेनेपर क्या नहीं किया जा सकता—

हिम्मत करै इन्सान तो क्या हो नहीं सकता ?

सब कुछ हो सकता है, बस, प्रण करने भरकी देर है—

कुछ करके उठेंगे या अब मरके उठेंगे ।

भगवान् बुद्धदेवने छन्दकसे दृढ़ निश्चयके साथ कहा था—

वज्राशनिपरशुशक्तिशराश्मवर्षे,
विद्युत्प्रभानज्वलितं क्वथितं च लोहम् ।
आदीप्तशैलशिखरा प्रपतेयुर्मूर्ध्नि
नो वा अहं पुनरुत्तेय गृहाभिलापम् ॥

'मेरे सिरपर चाहे वज्र आ गिरे, चाहे बिजली, परशु, शक्ति, शर तथा पत्थरोंकी वर्षा हो, चाहे बिजलीकी भाँति जलता हुआ लोहा सिरपर गिर पड़े और चाहे दहकता हुआ ज्वालामुखी पहाड़ सिर-पर आ पड़े, पर अब मेरे हृदयमें घर लौटनेकी अभिलाषा नहीं होगी।'

संयमी और दृढ़निश्चयी ही ऐसा वज्रोद्गार मुखसे निकाल सकता है, कारण कि उसे अपनी आत्मशक्तिपर पूर्ण विश्वास होता है । संयम और निश्चयमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है । बिना संयमके निश्चय नहीं हो सकता और बिना निश्चयके संयम नहीं हो सकता । जो संयमी और निश्चयवान् है, वही अपनी मति और अपने मनकी पवित्र भेंट भगवान्‌के चरणोंपर चढ़ा सकता है । जबतक भक्तने मन-बुद्धिको ईश्वरार्पित नहीं कर

दिया, तबतक प्रभुके दरबारसे 'अंगीकृत' का परवाना उसे मिल नहीं सकता। इस प्रकार जो सदा सन्तोषी, संयमी, दृढ़निश्चयी और योग-युक्त रहता है और जिसने अपनी बुद्धि और अपने मनको ब्रह्मार्पित कर दिया है वह भगवान्‌को प्राणोंसे भी अधिक प्यारा है, क्योंकि वह सतत योग-सम्पन्न होकर अपनी लौ प्रभुमें निरन्तर लगाये रहता है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

जिससे न तो किसीको उद्वेग होता है और न स्वयं जो किसीसे क्लेश पाता है तथा जो हर्ष, ईर्ष्यामूलक क्रोध, भय और विषादसे रहित है वही भक्त मुझे प्रिय है।

ज्ञानदेवजीने कहा है—

'समुद्रकी गर्जनासे जैसे जलचरोंको भय नहीं उपजता और जलचरोंसे जैसे समुद्र नहीं ऊबता, वैसे ही इस उन्मत्त जगत्‌से जिसे खेद नहीं होता और जिसके सहवाससे जगत् दुखी नहीं होता; बहुत क्या वर्णन करूँ, शरीर जैसे अवयवोंसे, वैसे ही जो स्वयं जीव होनेके कारण जीवोंसे नहीं ऊबता, वह मुझे प्रिय है।'

उसकी दृष्टिमें संसार मायामय और दुःखमय नहीं, किन्तु ब्रह्ममय, लीलामय और आनन्दमय है। अतः वासुदेवमय जगत्

उसे उद्वेगकारी कैसे हो सकता है? इसी प्रकार संसारको भी उससे कोई क्लेश नहीं पहुँचता। उसे पाकर तो विश्व कृतार्थ हो जायगा, विश्व उसे सुखदायी और विश्वको वह सुखदायी प्रतीत होगा। उसके समीप उद्वेग जायगा ही क्यों?

उसे यदि किसी वस्तुकी प्राप्ति हो जाती है, तो उससे वह हर्षित नहीं होता। समुद्रके समान उसकी एकरस आत्मतृप्ति होनेके कारण वह साम्राज्य-जैसे महान् लाभसे भी प्रसन्न नहीं होता। जो परमानन्दमय भगवत्प्रेममें निमग्न हो चुका है, वह क्षुद्र वस्तुओंकी प्राप्तिसे अब और हर्षित क्यों होगा? इसी प्रकार उसे ईर्ष्यात्मक क्रोध कभी नहीं सताता। वह दूसरोंकी बढ़ती देखकर डाहसे जला नहीं करता। यह तो अभक्तका लक्षण है, कि—

> काहू कै जो सुनहिं बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई॥
> जब काहूकी देखहिं बिपती। सुखी होहिं मानहुँ जग-नृपती॥
>
> —तुलसी

भक्तके पास अमर्षका क्या काम? जो अहर्निश जीवमात्रकी हित-चिन्तना किया करता है, उसे ईर्ष्याकी आग कैसे जला सकती है? वह तो नित्य यही मनाया करता है, कि सब सुखी रहें, सबका कल्याण हो। ऐसा लोक-हित-चिन्तक भगवद्भक्त ईर्ष्याजनित क्रोधसे सर्वथा मुक्त रहता है। सुख-दुःखादिके द्वन्द्वों-से वह बहुत आगे निकल जाता है। वह निर्भय और सुधीर होता है। भयका तो वह नाम भी नहीं जानता, भयभीत किससे

हो ? भय अज्ञानसे होता है। जिसे ईश्वरकी सर्वव्यापकताका सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो चुका, उसे अब किसका भय रहा ? उसने तो अपने परम अनुरागके द्वारा भव-भय-हरण भगवान्‌के चरणों-की अकुतोभय शरण प्राप्त कर ली है। एक बार शरणमें जाने भरकी देर है, 'अभय-दान' तो हाथमें रक्खा ही है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

वास्तवमें, भागवतपद ही निर्भय पद है; तभी तो प्रेम-मूर्ति स्वामी राम अपनी निराली मस्तीमें झूम-झूमकर अलाप रहे हैं—

डटकर खड़ा हूँ खौफसे खाली जहानमें।
तसकीनें दिल भरी है मेरे दिलमें जानमें॥

ऐसा निर्भय भक्त स्वभावतः उद्वेग-रहित होता है। उसके चित्तमें कभी घबराहट नहीं आती। वह न हर्षसे प्रफुल्लित होता है और न क्रोधसे जलने लगता है। न भयसे कभी काँपता है और न दुःखसे घबराता है। वह तो सदा निर्द्वन्द्व अवस्थामें निमग्न रहता है। धन्य है उसे, जो इतनी ऊँची ब्राह्मी स्थिति प्राप्त कर चुकने-पर भी श्रीकृष्णका सुमधुर प्रेम-रस पीनेके लिए सदा प्यासा ही बना रहता है। ऐसे ही प्राण-प्रिय भक्तके विषयमें भगवान्‌ने कहा है—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विजः।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

ऐसे भक्तोंकी पराधीनता भी स्वीकार करनेमें भगवान् अपना गौरव मानते हैं। धन्य!

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥१६॥

वही भक्त मुझे प्यारा है, जो निरपेक्ष अर्थात् आकांक्षा-रहित, विशुद्ध और चतुर है अर्थात् किसी भी कामको जो प्रेमसे उत्साह-पूर्वक करता है, जो पक्षपातसे रहित है अथवा जो कर्म-फलके विषयमें उदासीन है, जिसे कोई भी चिन्ता डिगा नहीं सकती और जिसने सङ्कल्पमात्रका परित्याग कर दिया है।

उसके हृदयमें किसी प्रकारकी आकांक्षा नहीं रहती, क्योंकि वह पूर्णत्वको प्राप्त कर चुकता है। वह आप्तकाम भक्त इच्छाओंके लहलहे खेतमें आग लगा देता है। वह भक्तियोगी फलाशाको जलाकर भस्म कर देता है—

आसाका ईंधन करूँ, मनसा करूँ भभूत।
जोगी फिरि फेरी करूँ, यो बनि आवै सूत॥

—कबीर

इस प्रकार सब इच्छाओंसे सर्वथा विमुक्त होकर वह सन्त परम पवित्र हो जाता है। अशुचिता इच्छाओंहीकी तो होती है। निरपेक्ष पुरुषका अन्तःकरण विशुद्ध होता है। भीतरका मल निष्काम जलसे ही धुलता है। भक्तकी पवित्रताका कुछ पार!

पुण्योदका जाह्नवीको भी प्रेमी सन्तकी शुचिता पवित्र करनेवाली होती है, बल्कि यों कहना चाहिए, कि भक्तोंकी प्रेम-पवित्रतासे ही गंगाको पवित्रता मिली है। उसका हृदय दर्पणके समान निर्मल होता है। तभी तो भगवान्‌ने अपने भक्तके प्रेम-पूर्ण स्वच्छ हृदयको अपना निवास-स्थान बना लिया है। भगवान् श्रीरामने कहा है—

तिनके हृदय कमल महँ करउँ सदा विश्राम।

वह दक्ष होता है, अनासक्त होकर भगवदर्थ कार्यकर्मोंके करनेमें वह बड़ा कुशल होता है। कौशलपूर्वक कर्मोंकी फलाशा छोड़कर अनासक्ति-योगको वह सुखेन सिद्ध कर लेता है। योग है क्या? 'कर्मोंमें कौशल।'

योगः कर्मसु कौशलम्।

आलस्यका तो नाम भी वह नहीं जानता। उसे मुक्तकण्ठसे प्रसन्नमुख मूर्तिमान् 'उद्योग' कह सकते हैं। भगवान्‌का भक्त जन-सेवासे मुँह मोड़कर मेंढ़की तरह किसी कोनेमें बैठ नहीं रहता। वह तो निरन्तर भगवत्-निर्दिष्ट लोकसंग्रहमें ही निरत रहता है। ठगिनी मायाकी आँखोंमें धूल झोंककर भक्ति-रसका प्याला पी लेना क्या कोई मामूली चतुराई है? भक्तकी चतुरताको कौन पा सकता है?

उसमें पक्षपातकी गन्ध भी नहीं होती। वह सदा तटस्थ रहता है। कुछ कहेगा, तो यथार्थ कहेगा, नहीं तो कुछ कहेगा ही नहीं। गोसाईंजी कहते हैं—

की मुख पट दीन्हे रहै, जथा-अरथ भाषन्त।
'तुलसी' या संसारमें, सो विचारयुत सन्त॥

वह मुहँदेखी बात न कहेगा, किसीकी खुशामद न करेगा। उसे किसका पक्ष लेना है ? सारे पक्ष उसीके तो हैं, क्योंकि उसका प्यारा राम सभी घटोंमें रम रहा है। सन्तका सहज भाव होता है। उसे अपना कोई स्वार्थ तो साधना नहीं, जो किसी ख़ास पक्षको जाकर स्वीकार करे। जो कर्मफलोंके प्रति उदासीन हो गया, उसका अब पक्षपातसे प्रयोजन ही क्या रहा ?

शत्रु न काहू करि गनै, मित्र गनैं नहिं काहिं।
'तुलसी' यह मत सन्तको, बोलै समता माहिं॥

ऐसा भक्त दुःखोंसे मुक्त होता है। भक्तको व्यथा कैसी ? उसका तो रोम-रोम सुखसे भरा रहता है। जब कोई चिन्ता ही नहीं, तब व्यथा किस बातकी ? वह खुदमस्त हमेशा मौजमें मगन रहता है—

बदन बिकसित रहे, ख्याल आनन्दमें,
अधरमें मधुर मुसकान बानी।

—कबीर

कैसी अकथनीय है यह आनन्दकी अद्वैत अवस्था ! प्रेमोन्मत्त होकर भक्त कैसा झूम रहा है ! अरे, जिसके *'हिरदेमें महबूब है हरदमका प्यारा'*—वह अलमस्त फ़कीर मौजकी

मस्तीमें झूमता न फिरेगा, तो फिर करेगा क्या ? ऐसे ही प्रेमियोंको *'गतव्यथ'* कहते हैं।

वह समस्त सङ्कल्पोंका परित्याग कर देता है, काम्यफलोंके सब उद्योग छोड़ बैठता है, किन्तु निरुद्योगी नहीं हो जाता। कार्यकर्मोंके उद्योगोंमें सदैव निरत रहता है। किन्तु उसके वे सभी उद्योग सङ्कल्प-रहित होते हैं। गीतामें कहा है—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

अर्थात्, जिसके सभी उद्योग फलकी इच्छासे रहित होते हैं और इस प्रकार अपने कर्मोंको जो ज्ञानकी अग्निसे भस्म कर देता है, उसीको ज्ञानी पुरुष पण्डित कहते हैं।

अतएव *'आरम्भपरित्यागी'* का अर्थ स्वरूपतः उद्योग-त्यागी नहीं, किन्तु काम्य उद्योगोंका परित्याग करनेवाला है। तिलक महाराज इस शब्दपर लिखते हैं—

'सोलहवें श्लोकमें जो *'सर्वारम्भपरित्यागी'* शब्द आया है उसका अर्थ 'सारे कर्म या उद्योगोंको छोड़नेवाला' नहीं करना चाहिए; किन्तु गीता (४।१९) में जो कहा है, कि जिसके समारम्भ फलाशा-विरहित हैं उसके कर्म ज्ञानसे दग्ध हो जाते हैं, वैसा ही अर्थ यानी काम्य आरम्भ अर्थात् कर्म छोड़नेवाला करना चाहिए। यह बात गीता १८।२ और १८।४८ एवं ४९ से सिद्ध होती है।'

महात्माजीने भी यही सार निकाला है। लिखते हैं—

'जो कर्म ऐसे हों, कि आसक्तिके बिना हो ही न सकें वे सभी त्याज्य हैं।'

मनकी सरल वासनाओंका परित्याग जिसने कर दिया है, वही *'सर्वारम्भपरित्यागी'* है। यह *'सर्वारम्भपरित्यागी'* शब्द 'गुणातीत'के लक्षणोंमें भी आया है—

सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।

'स्थितप्रज्ञ'की परिभाषामें भी इसी भाँति मनकी वैराग्य-स्थिति प्रकट की गई है, यथा—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

अर्थात्, हे पार्थ! जब कोई मनकी समस्त वासनाओंका त्याग करके अपने आपमें ही सन्तुष्ट होकर रहता है, तब उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

गीतामें वासना-त्यागपर ही अधिक ज़ोर दिया गया है। अतः यहाँ आरम्भका अर्थ काम-सङ्कल्प ही समीचीन होगा, यदि 'सर्वथा उद्योग-त्यागी' हो जानेसे गीताकारका अभिप्राय होता, तो इसी श्लोकमें 'दक्ष' शब्द न रक्खा गया होता। कर्म-दाक्षिण्य भी हो और कर्म-परित्याग भी हो—दोनों बातें एक साथ कैसे हो सकती हैं? अतएव भगवद्भक्त स्वरूपतः समस्त कर्मोंका त्याग

नहीं, किन्तु केवल काम्य-सङ्कल्पात्मक कर्मोंका ही परित्याग करता है।

भगवान् कहते हैं, कि इतना ऊँचा योगी होनेपर भी जो मेरे प्रेम-रसका सदा पान करता रहता है, वह मुझे अत्यधिक प्रिय है। पार्थ! उसकी मैं वलैया लिया करता हूँ, उसपर मैं अपने आपको निछावर कर देता हूँ। पर कितने हैं ऐसे प्रेम-रसोन्मत्त प्यारे सन्त इस नीरस संसारमें? कठिन है, सन्त होना कठिन है—

> साधु कहावन कठिन है, लंबा पेड़ खजूर।
> चढ़ै तो चाखै प्रेम-रस, गिरै तो चकनाचूर॥
> जीवन्मुक्त ह्वै रहै, तजै खलककी आस।
> आगे-पीछे हरि फिरैं, क्यों पावै दुख दास॥
>
> —कबीर

ऐसे प्राणप्रिय भक्तकी रक्षाके लिए भगवान् सदा उसके पीछे-पीछे डोलते रहते हैं। उनकी महिमाका गान करते हुए आप अघाते नहीं, उनका स्मरण करते ही मानो प्रेम-सरोवरमें डूब जाते हैं—

> ऐसो भक्त सदा मोहिं प्यारो। इक छिन जातें रहौं न न्यारो॥
> ताके मैं हित, मम हित सोई। ता सम मेरो और न कोई॥
> त्रिविध भक्ति मेरी है जोई। जो माँगै तिहि देहुँ मैं सोई॥
> भक्त अनन्य कछू नहिं माँगै। तातें मोहिं सकुच अति लागै॥
>
> —सूर

अपने प्यारे भक्तके लक्षणोंका आप और भी विशद वर्णन करते हैं, कहते हैं—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ।१७।

जो न हर्ष मानता है, न द्वेष करता है, जिसे न शोक होता है, न इच्छा होती है और जिसने कर्मके शुभ और अशुभ दोनों ही फल छोड़ दिये हैं, वह भक्ति-परायण पुरुष मुझे अत्यन्त प्रिय है ।

कोई लाभ उसे हो जाय, तो उससे वह हर्ष नहीं मानता, क्योंकि परमात्म-लाभके आगे वह अन्य सभी लाभोंको तृणवत् तुच्छ समझता है । उसकी दृष्टिमें कोई भी लाभ नया नहीं रह जाता । इसलिए उसे उससे आनन्दित होनेका कोई कारण नहीं । वह तृष्णाका आत्यन्तिक क्षय कर देता है । उस तृष्णाका क्षय, जिसके विषयमें सन्त कबीरने कहा है, कि—

> की तृस्ना है डाकिनी, की जीवनका काल ।
> और-और निसिदिन चहै, जीवन करै बेहाल ।।

तृष्णाका आमूल नाश हो जानेपर बिना बुलाये ही अनेक लाभ उसके पैरोंके पास आकर लोटा करते हैं, पर वह आत्म-

सन्तुष्ट सन्त, आनन्दित होनेकी तो बात ही दूर है, उनकी ओर देखता भी नहीं।

द्वेषका उसमें शतांश भी नहीं रह जाता। स्वयं ही जगन्मय हो जानेसे भेद-भाव उसका समूल नष्ट हो जाता है। जब भेद-भाव ही नहीं रहा तब द्वेष किसके प्रति होगा? उसके हृदयमें तो सबके लिए केवल प्यार होगा। उसकी नज़रमें सारी सृष्टि प्रेममय और कृष्णमय है। अपनी आत्मासे, अपने प्रेमसे और अपने प्यारे कृष्णसे ऐसा कौन मूढ़ होगा जो द्वेष करेगा? प्रह्लाद तो लोहेके जलते हुए खम्भे और नंगी तलवारमें भी अपने रामको देखता है। मस्त सरमद जल्लादमें भी अपने प्यारेकी सूरतकी झलक पाता है। तलवार चमकाते हुए जल्लादको देखकर वह प्रेमका मस्ताना शहीद झूम-झूमकर कहता है—

'तेरे कुर्बान जाऊँ, आ, आ, तू जिस सूरतमें भी आवे, मैं तुझे खूब पहचानता हूँ।'

भला ऐसा मनुष्य किसीके साथ द्वेष करेगा? वह तो अपनी पुनीत प्रेम-धारासे जीवमात्रके पापोंको पखार देगा। जहाँ जायगा तहाँ प्रेमकी सृष्टि रच देगा। प्रेम और द्वेषमें सूर्य-अन्धकार-जैसा सम्बन्ध है।

जो न हर्ष मानता है, न द्वेष करता है, वह शोक भी नहीं

करता। जब उसका कुछ खो जाय, तब उसके लिए शोक करे। जो यह समझ चुका है, कि—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

अर्थात्, जो नहीं है वह हो ही नहीं सकता। और जो है उसका अभाव नहीं होता। उसे शोक कैसे सन्तप्त कर सकता है? उसका प्यारे-से-प्यारा सम्बन्धी भी मर जाय, तब भी उसे उसके लिए शोक नहीं होता; क्योंकि उसका विश्वास है, कि आत्मा अविनाशी है, मृत्यु तो केवल देहान्तर-प्राप्तिके लिए ही हुआ करती है, फिर शोक क्यों?

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

जैसे, मनुष्य पुराने वस्त्रोंको उतारकर नये वस्त्र पहनता है, वैसे ही देहधारी जीर्ण देहका त्यागकर दूसरी नयी देह पाता है; अतः—

तत्र का परिदेवना

जिस प्रकार शोकसे वह मुक्त है, उसी प्रकार आकांक्षाओंसे भी रहित है। वह किसी भी प्रकारकी इच्छा नहीं करता। क्योंकि वह उस वस्तुको पा जाता है, जिसके परे फिर और कुछ पानेको

नहीं रह जाता । जो अपूर्ण हो, वह इच्छा करे; किन्तु जो परिपूर्ण है वह इच्छा किस वस्तुकी करेगा ? प्रभुको चाहना और अन्य आशाओंसे अपनेको बाँध रखना ये दोनों बातें एक साथ कैसे हो सकती हैं ? कबीरकी एक साखी है---

> जो तू चाहै मुज्झको, राखै और न आस ।
> मुझहि सरीखा होइ रहु, सब सुख तेरे पास ॥

इसीलिए भगवान्का भक्त सर्व सङ्कल्प-विकल्पोंको छोड़ देता है और निस्पृह हो जाता है । उसके हृदयमें यदि कोई इच्छा रहती है, तो वह केवल भगवत्प्रेमकी ही । वह अपने प्यारे रामसे सदा यही कहा करता है---

> अर्थ न धर्म न काम-रुचि, गति न चहौं निर्वान ।
> 'जनम-जनम रति रामपद,' यह बरदान न आन ॥

यही उसके प्रेमपूर्ण हृदयमें एकमात्र आकांक्षा शेष रहती है । जो हर्ष-शोक, द्वेष-आकांक्षा आदिसे मुक्त हो जाता है, वह शुभाशुभ फलोंका तत्त्वतः त्याग कर देता है । वह केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूप हो जाता है । पर इसका यह अर्थ नहीं है, कि वह अपनेको मुक्त समझकर बुरे फलवाले कर्मोंको जान-मानकर किया करता है । अशुभ-कर्म उससे हो ही नहीं सकते, क्योंकि सिद्धावस्थाको प्राप्त कर चुकनेपर भी वह लोकसंग्रहके अर्थ कर्म

करता है । किन्तु उनके शुभाशुभ फलोंपर उसकी अन्तर्दृष्टि नहीं रहती । ज्ञानदेवजीके शब्दोंमें—

'जैसे सूर्यको रात्रि और दिवस प्रकट नहीं होते, वैसे ही उसे भला या बुरा कुछ भी प्रतीत नहीं होता ।'

वह अपने कर्मोंके शुभाशुभ फलोंको शून्यमें विलीन कर देता है । तब फिर क्यों न भगवान्का उसपर आत्यन्तिक स्नेह-भाव उत्पन्न हो ? क्यों न उसकी चित्तवृत्तिपर आप मन्त्र-मुग्ध हो जायँ ?

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

शत्रु और मित्र, मान और अपमान, सर्दी और गर्मी तथा सुख और दुःख जिसे समान हैं और जिसकी कहीं भी आसक्ति नहीं है; जो निन्दा और स्तुति एक-सी समझता है, जो मितभाषी है, जो कुछ मिल जाय, उसीमें जिसे सन्तोष है और जो स्थिर-बुद्धिवाला है—वह भक्तिमान् पुरुष मुझे अतिशय प्रिय है ।

शत्रु और मित्र उसे बराबर हैं । उसके साथ कोई मित्रताका

भाव रक्खे तो, और शत्रुताका व्यवहार करे तो, उसकी ओरसे पायगा प्रेमका ही दान। उसके हृदयका ख़ज़ाना सभीके लिए एक-सा खुला हुआ है। जितना प्रेम-धन जिसे लूटना हो, लूट ले जाय। पर यह बात तो नहीं है, कि अपने प्रति शत्रुताका व्यवहार करनेवालेका वह कुछ भी नहीं करता। अजी, बदला तो भक्त भी लेता है। वह अपने शत्रुपर प्रेमका प्रहार करता है; और, आप जानते ही हैं, प्यारकी मारसे कौन बच सकता है? वह क्रोधको अक्रोधसे और असाधुताको साधुतासे जीत लेता है। धृतराष्ट्रसे विदुरने कहा था—

अक्रोधेन जयेत् क्रोधं, असाधुं साधुना जयेत्।

भगवद्भक्त चन्दनके समान होता है। जिस कुल्हाड़ीसे वह काटा जाता है, उसे भी अपनी सुगन्धका दान वह मुक्तहस्त होकर देता है। गोसाईंजी कहते हैं—

काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगन्ध बसाई॥

इसीलिए *'सन्त-उदय सन्तत सुखकारी'* कहा गया है। हमारे सौभाग्यसे हमारे नेत्रोंके सामने *'समः शत्रौ च मित्रे च'* का मूर्तिमान् उदाहरण 'गाँधी' के रूपमें आज विद्यमान है। हम दुर्दलित भारतीय, वास्तवमें, आज बड़भागी हैं।

मान और अपमानका उसे कोई विचार नहीं होता। वह दूसरों-को मान देता है, पर स्वयं उनसे मान नहीं चाहता, और मान

मिलनेपर आनन्दित नहीं होता, कोई उसका अपमान कर दे तो दुखी नहीं होता। मान-सम्मानसे वह अलग ही रहता है, क्योंकि वह जानता है, कि—

लोकमान्यता अनल-सम कर तप-कानन-दाह।

किन्तु जो मान पानेकी इच्छा नहीं करता, उसके पैरोंपर संसारभरका मान-सम्मान आप ही आकर लोटा करता है। मान-बड़ाईका त्याग सब त्यागोंमें सबसे कठिन है, किन्तु भक्ति-पथ-पथिकके लिए सबसे अधिक आवश्यक है—

कञ्चन तजना सहज है, सहज तियाका नेह।
मान-बड़ाई त्यागना, 'कबिरा' दुर्लभ येह॥

गुणातीत भी ऐसा ही होता है—

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।

सर्दी और गर्मी भी उसके लिए समान है। प्रभु-पूजा और लोक-सेवामें वह ऐसा निरत हो जाता है, कि उसे सर्दीमें सर्दी और गर्मीमें गर्मी नहीं जान पड़ती। उसे इतनी फुरसत ही कहाँ, जो अपने शरीरको आराम पहुँचानेके लिए सर्दी-गर्मीके अनुकूल सुखोपचार करता फिरे? महात्मा ज्ञानदेवजीके टकसाली शब्दोंमें—

'तीनों ऋतुओंमें आकाश जैसे समान रहता है, वैसे ही वह शीत और उष्णको समान मानता है।'

प्रकृति उसके सदा अनुकूल रहती है। भगवान्‌की दासी, भगवान्‌के दासकी भी दासी है। उसे न सर्दीमें सर्दी सताती है और न गर्मीमें गर्मी। जिसकी रक्षाका भार स्वयं भगवान् अपने ऊपर लिये हुए हैं, उसे शीतोष्ण दुखदायी कैसे हो सकते हैं? भागवत-भूषण भरत जब श्रीरामको लौटा लानेके लिए चित्रकूट जा रहे थे, तब प्रतिकूल प्रकृति भी उनके अनुकूल हो गयी थी। लिखा है—

> किये जाहिं छाया जलद, सुखद बहइ बर बात।
> तस मग भयउ न राम कहँ, जस भा भरतहिं जात॥

—तुलसी

भगवद्भक्तका प्रताप ही ऐसा है। प्रकृति भी उस परम त्यागीकी टहल करनेको हाथ जोड़े खड़ी रहती है।

इसी प्रकार सुख-दुःखमें भी वह समताका भाव रखता है। न सुखसे प्रीति करता है, न दुःखसे घृणा करता है। उसकी प्यार-भरी दृष्टिमें सुख सुख नहीं, दुःख दुःख नहीं—

> दुखते दुख नहिं ऊपजै, सुखते सुख नहिं होय।

—तुलसी

वह अपने आत्म-भावमें ही सदा मग्न रहता है। सुख और दुःख उस सुधीर सन्तको विचलित नहीं कर सकते। जैसे सूर्यके लिए दिन और रातमें कोई अन्तर नहीं है, उसी प्रकार उस तत्त्व-

दर्शी भक्तकी दृष्टिमें सुख और दुःखके बीच कोई तात्त्विक भेद नहीं है। वह सुख-दुःखादिके द्वन्द्वोंसे परे है। वह समस्त संसारको समत्वके अमिट रंगमें रँगा हुआ देखता है। यह समत्व उसे प्राप्त कैसे होता है? सङ्ग-विवर्जित अर्थात् आसक्तिमुक्त होनेसे। आसक्तिसे ही द्वन्द्वकी उत्पत्ति होती है। सङ्गसे ही जीवका सर्वनाश होता है। सङ्गसे लेकर नाश तक हमारे पतनकी एक क्रमवद्ध शृङ्खला गीतामें पायी जाती है। दूसरे अध्यायमें भगवान्‌ने कहा है—

सङ्गात्सञ्जायते कामः, कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः; संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

अर्थात्, सङ्ग (आसक्ति) से यह कामना उत्पन्न होती है, कि हमको वह काम्य विषय चाहिए और फिर कामनाके तृप्त न होनेसे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे अविवेककी उत्पत्ति होती है। मूढ़तासे होश ठिकाने नहीं रहता, और होश ठिकाने न रहनेसे बुद्धिका नाश हो जाता है। अन्तमें, ज्ञान नष्ट हो जानेसे मनुष्यका सर्वनाश अवश्यम्भावी है।

आसक्तिसे हमारा पतन होता है और अनासक्तिसे उत्थान। संसाररूपी अश्वत्थवृक्षको जड़से काट डालनेके लिए अनासक्ति ही एक सुदृढ़ कुठार है। भगवान्‌ने कहा है—

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥

× × ×

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।

खूब गहराई तक गई हुई जड़ोंवाले इस अश्वत्थ वृक्षको असङ्ग (अनासक्ति) रूपी सुदृढ़ शस्त्रसे काटकर उस स्थानको खोज लेना चाहिए, जहाँ जानेसे फिर लौटना नहीं पड़ता, जन्म-मरणके चक्करमें फिर आना नहीं पड़ता।

पूज्य गान्धीजीने इस 'असङ्ग' शब्दपर अपने अनासक्ति-योगमें यह टिप्पणी दी है—'असङ्गका मतलब है असहयोग अर्थात् वैराग्य। जबतक मनुष्य विषयोंसे असहयोग न करे, उनके प्रलोभनोंसे दूर न रहे तबतक वह उनमें फँसता ही रहेगा। विषयोंके साथ खेल खेलना और उनसे अछूता रहना, यह एक अनहोनी-सी बात है।'

कोई-कोई 'सङ्ग' का अर्थ साधारण 'साथ' करते हैं और कहते हैं, कि किसीका साथ न करना चाहिए, सब सङ्गी-साथी छोड़कर जङ्गलमें एकाकी बैठ जाना चाहिए। पर इससे होगा क्या? मनमें तो सङ्गी-साथियोंका ध्यान बना ही रहेगा, उनकी मायामें चित्त तो फँसा ही रहेगा, जिससे कोई लाभ न होगा। अतएव सङ्गका अर्थ साधारण 'सङ्ग-साथ' नहीं, किन्तु आसक्ति

है। विषयासक्तिके त्यागपर ही गीतामें आदिसे अन्ततक सबसे अधिक ज़ोर दिया गया है। आसक्ति ही समस्त दुःखोंकी जड़ है, इससे भक्तको 'सङ्गविवर्जित' ही होना चाहिए। भगवान्‌के हृदय-का दुलारा वही प्राणी है जिसने गीतानुमोदित अनासक्ति-योगके द्वारा पराभक्ति प्राप्त कर ली है।

ऐसा अनासक्त भक्त निन्दा और स्तुतिमें समताका भाव रखता है। कोई उसकी प्रशंसा करे, तो प्रफुल्लित नहीं होता और निन्दा करे तो बुरा नहीं मानता, बल्कि निन्दकका तो वह स्वागत-सत्कार करता है। वह समझता है, कि निन्दासे मनका मैल कट जाता है। सन्त-श्रेष्ठ कबीर कहते हैं—

निन्दक नियरे राखिए, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करै सुभाय॥
निन्दक हमरा जनि मरौ, जिऔ अनादि युगादि।
'कबिरा' सतगुरु पाइया, निन्दकके परसादि॥

महात्मा दादूदयाल भी निन्दक महोदयको ऐसा ही शुभा-शीर्वाद दे रहे हैं —

निन्दक बपुरा जनि मरै, पर-उपकारी सोइ।
हमकूँ करता ऊजला, आपन मैला होइ॥

कोई बुरा कहे, तो उसके कहनेपर बुरा माने ही क्यों! उस्ताद ज़ौक़ ने क्या अच्छा कहा है—

तू भला है, तो बुरा हो नहीं सकता, ऐ ज़ौक़ !
है बुरा वह ही, कि जो तुझको बुरा जानता है ॥
और अगर तू ही बुरा है, तो वह सच कहता है ।
क्यों बुरा कहनेसे तू उसके बुरा मानता है ॥

पर सच्चा सन्त '*है बुरा वह ही कि जो तुझको बुरा जानता है*' इससे आगे बढ़ जाता है। वह उसे भी बुरा नहीं कहता, जो झूठी ही निन्दा किया करता है। वह तो '*निन्दक नियरे राखिए आँगन कुटी छवाय*' का कायल है।

जो स्वयं अपनी निन्दासे बुरा नहीं मानता, वह दूसरोंकी निन्दा करेगा, यह तो कहना ही व्यर्थ है। इसी प्रकार वह स्तुति-से भी दूर रहा करता है। प्रशंसासे वह प्रसन्न नहीं होता। वह समझता है, कि जो स्तुतिसे प्रसन्न होता है, वह निन्दासे अवश्य कष्ट पाता है। अतः जिसके निन्दा और स्तुति दोनों ही समान हैं, वही भगवान्‌का प्राणप्रिय भक्त है—

निन्दा अस्तुति उभय सम, ममता मम पदकंज ।
ते सज्जन मम प्रान-प्रिय, गुन-मंदिर सुख-पुंज ॥

—तुलसी

गुणातीतके लक्षणोंमें भी '*तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः*' शब्द आया है।

वह भक्त मौनी अर्थात् मितभाषी होता है। वह अपनी जिह्वापर नियन्त्रण रखता है, ज़बानपर लगाम रखता है।

उसके प्रत्येक तुले-नपे शब्दका मूल्य होता है। वह जो कुछ बोलता है, परहितकी दृष्टिसे ही बोलता है, व्यर्थ वादविवादमें वह कभी नहीं पड़ता। इसे वह उपाधि-रूप समझता है—

> वाद-विवादै विष घना, बोले बहुत उपाध।
> मौन गहै सबकी सहै, सुमिरै नाम अगाध॥

मौनसे यह तात्पर्य नहीं है, कि एकदम बोलना ही छोड़ दे और किसीके कामका ही न रह जाय। कभी-कभी तपकी दृष्टिसे एकान्तमें चार-छः घण्टेका हठपूर्वक मौन-साधन भी अच्छा होता है। पर जीवनभरके लिए मौनीबाबा बन जाना कोई बुद्धिमानीकी बात नहीं। अतः मौनसे गीताकारका यहाँ 'हितकर-मितभाषण' से ही अभिप्राय है। यह मौन महान् तप है, भगवान्की एक विशेष विभूति है यथा—*'मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्।'*

जो कुछ मिल जाय उसीमें वह मस्तराम सन्तोष मान लेता है। तृष्णाका आत्यन्तिक क्षय कर देनेपर वह मजेमें आत्मसन्तोषका आनन्द अनुभव किया करता है। वह परिग्रहका दास नहीं होता, यथाप्राप्त लाभसे ही परम सन्तुष्ट रहता है। कैसा सन्तोषी होता है सन्त—

> रूखा-सूखा खायकै, ठंडा पानी पीव।
> देख बिरानी चूपड़ी, मत ललचावै जीव॥
>
> —कबीर

असन्तोषकी आगसे सारा संसार जल रहा है। भगवान्का सच्चा भक्त ही इस दावानलसे बचा है। क्योंकि वह सन्तोषके सुशीतल जलसे उसे प्रशान्त कर देता है। अपने लिए तो वह कुछ भी नहीं चाहता, पर दूसरोंके हितार्थ भीख माँगनेमें भी वह संकोच नहीं करता। कहता है—

> मर जाऊँ माँगूँ नहीं, अपने तनके काज।
> परमारथके कारने, मोहि न आवै लाज॥
>
> —कबीर

वह अनिकेत होता है। अपना कहीं आश्रय नहीं बनाता। किसी वस्तुमें अपनी आसक्ति नहीं रखता। यह समझकर, कि *'ना घर मेरा, ना घर तेरा, चिड़िया रैन-बसेरा'* वह मकान छोड़-कर जङ्गलको नहीं भाग जाता, क्योंकि *'चिड़िया रैन-बसेरा'* वाली बात जङ्गलमें भी तो है। सारांश यह है, कि घरमें रहता तो है, पर घरकी मोह-ममतामें नहीं फँसता, उसे अपना नहीं मानता, अनासक्त होकर उसमें रहता है। वह वसुधाभरको अपना ही निकेतन मानता है। लोकमान्य तिलकने इस 'अनिकेत' शब्दपर गीतारहस्यमें लिखा है—

'आश्रय और निकेत, इन दोनों शब्दोंका अर्थ एक ही है, अतएव अनिकेतका *'गृहत्यागी'* अर्थ न करके ऐसा करना चाहिए, कि गृह आदि स्थानमें जिसका मन फँसा नहीं है × × × ×

सारांश, जिसका चित्त घर-गृहस्थीमें, बाल-बच्चोंमें अथवा संसारके अन्यान्य कामोंमें उलझा रहता है, उसीको आगे दुःख होता है।'

फिर वह स्थिरबुद्धिवाला होता है। उसकी बुद्धि डावाँडोल नहीं रहा करती। वह तो शुद्ध, सात्त्विक निश्चय करनेवाली होती है। ऐसे भक्तको भगवान्‌ने स्थितप्रज्ञ अथवा स्थितधी कहा है, जिसके लक्षण गीताके दूसरे अध्यायमें इस प्रकारके दिये हैं—

'प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥' इत्यादि।

अर्थात्, हे पार्थ! जब कोई मनकी समस्त वासनाओंको छोड़ देता है और अपने आपमें ही सन्तुष्ट रहता है, तब उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं। दुःखसे जो घबराता नहीं है, सुखमें जिसकी आसक्ति नहीं और राग, भय तथा क्रोधसे जो रहित हो जाता है उसे स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं। सर्वत्र सर्वथा जिसका मन निःसङ्ग हो गया, जिसे शुभकी प्राप्तिसे हर्ष नहीं होता,

और अशुभकी प्राप्तिसे विषाद नहीं होता,तो समझना चाहिए,कि उसकी बुद्धि स्थिर हो गयी। कछुआ जैसे सब ओरसे अपने अंग सिकोड़ लेता है वैसे ही जब कोई पुरुष अपनी इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे समेट ले, तब कहना चाहिए, कि उसकी बुद्धि स्थिर हो गयी, वह स्थितप्रज्ञका पद प्राप्त कर चुका।

भक्तके जो लक्षण इस अध्यायमें दिये गये हैं, प्रायः वे ही सब लक्षण स्थितप्रज्ञ और गुणातीतकी परिभाषामें आये हैं। तात्पर्य यह, कि भक्त होना आसान काम नहीं है। केवल दम्भसे माला सटकाने या बात-बातमें रो देनेसे ही भक्तका प्रमाण-पत्र नहीं मिल जाता। भक्तियोगके द्वारा स्थितप्रज्ञ और गुणातीतकी अवस्थाको प्राप्त कर लेनेपर भी जो श्रद्धा और प्रेमसे निरन्तर भगवन्निर्दिष्ट लोक-संग्रहमें निरत रहता है, वही गीताके अनुसार सच्चा भगवद्भक्त है। भगवान्‌की सहज ममता ऐसे ही प्यारे भक्त पर होती है। ऐसे ही भक्तके विषयमें आपने यह कहा है—

'हे अर्जुन, ऐसे भक्तको मैं अपने माथेपर धारण करता हूँ। उसे मैं अपने माथेका मुकुट बनाता हूँ और उसके चरण अपने हृदयमें रखता हूँ। उसके गुणोंके अलङ्कार अपनी वाणीको पहनाता हूँ और उसकी कीर्ति मैं अपने कानोंमें पहनता हूँ। उसका दर्शन करनेकी ही इच्छासे अचक्षु होते हुए भी मैंने आँखें स्वीकार की हैं। मैं अपने हाथके लीला-कमलोंसे उसकी पूजा करता हूँ। उसके

शरीरको आलिङ्गन देनेके लिए मैंने अपने दो हाथोंपर और भी दो भुजाएँ लगा ली हैं। उस प्रिय भक्तके समागम-सुखके लिए मैं विदेह होनेपर भी देह धारण करता हूँ। बहुत क्या कहूँ, उसपर मुझे अनुपम प्रेम है। उसपर मेरा प्रेम हो, इसमें आश्चर्य ही क्या ? जो उसके चरित्र सुनते हैं वे भी और जो भक्त-चरित्रकी प्रशंसा करते हैं वे भी मुझे प्राणोंसे प्यारे होते हैं—यह बात सत्य है।'

—ज्ञानदेव

भक्तियोगीके लक्षण गोस्वामी तुलसीदासजीने भी प्रायः ऐसे ही लिखे हैं—

षट् विकारजित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥
अमितबोध अनीह नित भोगी। सत्यसन्ध कवि कोविद जोगी॥
सावधान मानद मद हीना। धीर भगति-पथ-परम-प्रबीना॥

गुनागार संसार-दुख, रहित बिगत-सन्देह।
तजि मम चरन-सरोज, प्रिय जिन्ह कहँ देह न गेह॥

× × × ×

विषय-अलम्पट सील-गुनाकर। पर-दुख दुख, सुख सुख देखे पर॥
सम, अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामर्ष-हर्ष-भय-त्यागी॥
कोमलचित दीनन्हपर दाया। मन-बच-क्रम मम भगति अमाया॥
सबहिं मानप्रद, आपु अमानी। भरत प्रान-सम मम ते प्रानी॥

भगवान्का प्राणप्रिय बनना कुछ खिलवाड़ नहीं है। इतने उच्च सद्गुणोंसे युक्त होना कोई साधारण बात नहीं। इन गुणोंसे

युक्त पुरुषमें ज्ञान, कर्म और भक्ति इन तीनों ही महायोगोंका सामञ्जस्य देखनेमें आता है। पराभक्तिका अधिकारी वही व्यक्ति है, जो पूर्णतः तच्चित्त और तदीय हो जाता है। तब कहीं वह 'अङ्गीकृत' कहा जाता है। गोसाईंजीने हरि-अङ्गीकृत भक्तके लक्षण विनयपत्रिकामें इसप्रकार दिये हैं—

'तुम अपनायो' तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै।
जेहि स्वभाव विषयनि लग्यो, तेहि सहज नाथसों नेह, छाँड़ि छल, करिहै॥
सुतकी प्रीति, प्रतीति मीतकी, नृप ज्यों डर डरिहै।
अपनोसो स्वारथ स्वामीसों चहुँ विधि चातक ज्यों एक टेकते नहिं टरिहै॥
हरषिहै न अति आदरे, निदरे न जरि मरिहै।
हानि-लाभ, सुख-दुख सबै समचित हित अनहित कलि-कुचाल परिहरिहै॥
प्रभु-गुन सुनि मन हरषिहैं, नीर नयननि ढरिहै।
तुलसिदास, भयो रामको विस्वास-प्रेम लखि आनँद उमगि उर भरिहै॥

इस पदमें प्रभु-अङ्गीकृत जनके प्रायः वे ही सब लक्षण दिये गये हैं, जो गीतामें भक्तियोगीके अङ्कित किये गये हैं। यद्यपि ब्राह्मी स्थिति ज्ञान, भक्ति और कर्म इन तीनों ही योगोंके द्वारा प्राप्त की जा सकती है, तथापि ज्ञान-युक्त कर्ममूलक भक्तियोगका मार्ग ही उस परमपदतक पहुँचनेका राजमार्ग है। यह मार्ग परम गुह्य है, भगवान्ने स्वयं कहा है—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

अब तू दोष-दृष्टिसे रहित हो गया है, इसलिये हे अर्जुन ! यह गुह्यसे भी गुह्य विज्ञान-सहित ज्ञान तुझे बतलाता हूँ, जिसे जानकर तू पापसे छुटकारा पा जायगा । इस राजमार्गपर चलनेवाले पुरुषको क्या करना होगा, सो भगवान्‌के ही प्रेमान्वित शब्दोंमें सुनिए, कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

अर्थात्, मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे निमित्त कर्म कर और मुझे नमस्कार कर । इस तरह मुझमें परायण होकर (भक्ति–) योगका अभ्यास करनेसे तू मुझे ही पावेगा ।

गीतोक्त भक्तियोगके इस राज-मार्गपर चलनेका अधिकार प्राणीमात्रको है । इसमें ऊँच-नीच, ब्राह्मण-चाण्डाल और स्त्री-पुरुषका कोई भेद नहीं है । यह विश्ववन्दनीय भक्ति-मार्ग है । इसपर सभी चल सकते हैं । कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

हे पार्थ, मेरा आश्रय ग्रहण करके स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र और जो पापयोनि हैं वे भी परमगतिको पाते हैं ।

यह अनन्य प्रेम-लक्षणाभक्तिका पुण्यप्रभाव है । यहाँ, क्या ऊँच और क्या नीच ! भारीसे-भारी दुराचारी ही क्यों न हो, यदि

वह अनन्यभावसे भगवान्‌को भजने लगा, तो उसे साधु ही समझना चाहिए—

> अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
> साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

यह क्यों? क्योंकि अब उस अनन्य भक्तकी बुद्धिका निश्चय एक परमात्मा रहता है। इस श्लोकका कभी-कभी दुरुपयोग देखनेमें आता है। दिखाऊ भक्तिकी ओट लेकर लोग मनमाने दुराचार करने और अपनेको साधु समझने लगते हैं; इसका यह अर्थ कदापि नहीं है। कोई कितना ही बड़ा दुराचारी पहले रहा हो, किन्तु जब सच्चे हृदयसे निश्चयपूर्वक भगवान्‌को भजने लगता है, तब वह निष्पाप हो जाता है, फिर उसके द्वारा कोई बुरा काम हो ही नहीं सकता। अनन्यभक्ति-भाव दुराचारको नष्ट कर देता है। फिर तो वह धीरे-धीरे ऊपरको ही उठता है, नीचेको कभी गिरता नहीं। यदि वह बराबर पतनकी ही ओर जा रहा है, तो समझना चाहिए, कि वह भक्त नहीं, दम्भी है; साधु नहीं, असाधु है।

गीतामें चार प्रकारके भक्तोंका वर्णन आया है। किन्तु भगवान्‌को अनन्यभाव-युक्त ज्ञानी भक्त ही सबसे अधिक प्रिय है। यथा—

> चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
> आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन, चार प्रकारके पुण्यात्मा लोग मुझे भजते हैं—

१—आर्त्त, अर्थात् सांसारिक सङ्कटों—रोग-शोक-भय आदि—के निवारणके निमित्त भजनेवाला।

२—जिज्ञासु, अर्थात् ज्ञान-प्राप्तिकी इच्छा रखकर भजनेवाला।

३—अर्थार्थी, अर्थात् काम्य वासनाओंको मनमें रखकर भजनेवाला।

४—ज्ञानी, अर्थात् नित्ययुक्त और निष्काम होकर भजनेवाला।

इन सबमें एकान्त-भक्ति अर्थात् अनन्यभावसे जो मुझे भजता और सदा युक्त रहता है, उस ज्ञानी भक्तकी योग्यता औरोंसे विशेष है। मैं उस ज्ञानी भक्तको अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे अतिशय प्रिय है। वैसे तो मेरे सभी भक्त अच्छे हैं, पर ज्ञानी भक्त तो मेरी आत्मा ही है, मेरा ऐसा मत है। क्योंकि वह यह जानकर, कि मुझे प्राप्त करनेसे बढ़कर अन्य श्रेष्ठ गति नहीं है, युक्तचित्त होकर मेरा ही आश्रय ग्रहण करता है।

भगवान्‌का अपने अनन्य भक्तपर कितना अधिक प्रेम है!

है कोई पार इस प्रिय भावका ! प्यारे भक्तकी महिमा गाते-गाते आप अघाते ही नहीं। यह क्यों ? यह तो एक प्रकारका पक्षपात हुआ। भगवान् तो समद्रष्टा हैं। उनकी दृष्टिमें जैसा भक्त तैसा अभक्त, फिर भक्तपर इतनी ममता क्यों ? अध्यात्म दृष्टिसे तो भगवान्के सर्व प्राणी समान प्रिय हैं, किन्तु भक्तिदृष्टिसे अपने भक्त ही उन्हें अत्यन्त प्रिय हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

समभावसे मैं सर्व जीवोंमें रहता हूँ; मुझे न कोई अप्रिय है, न प्रिय; किन्तु जो मुझे भक्तिके साथ भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूँ।

गोसाँईंजीका भावसादृश्य देखिए—

समदर्शी मोहि कह सब कोऊ। सेवक-प्रिय अनन्य गति सोऊ॥

एक उदाहरण देकर गोसाँईंजीने भक्त-प्रियताका कैसा अच्छा स्पष्टीकरण किया है—

एक पिताके विपुल कुमारा। होंहि पृथक गुन-सील अपारा॥
कोउ पंडित कोउ तापस ज्ञाता। कोउ धनवन्त, सूर, कोउ दाता॥
कोउ सर्वज्ञ, धरमरत कोई। सबपर प्रीति पितहिं सम होई॥
कोउ पितु-भगत बचन-मन-करमा। सपनेहुँ जान न दूसर धरमा॥
सो सुत प्रिय पितु-प्रान-समाना। जद्यपि सो सब भाँति अमाना॥
एहि विधि जीव चराचर जेते। त्रिजग देव नर असुर समेते॥
अखिल विश्व यह मम उपजाया। सबपर मोहि बराबर दाया॥
तिन्हमहँ जो परिहरि मद-माया। भजहि मोहि मन बच अरु काया॥

पुरुष नपुंसक नारि नर, जीव चराचर कोइ ।
भगति-भाव भजि कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ ।।

अब तो भगवान्‌की समदृष्टि और भक्त-प्रियतामें कोई शङ्का न उठनी चाहिए। जो अनन्यभक्त है, उसपर भगवान्‌का अत्यधिक प्रेम हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या? जो सेवा करेगा, वह मेवा खायगा ही। यदि भक्त भगवान्‌का है तो भगवान् भी भक्तके हैं।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोऽक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

ऊपर कहे हुए इस सुधा-सम धर्मका जो मुझमें परायण होकर श्रद्धापूर्वक आचरण करते हैं, वे भक्त मुझे अतिशय प्रिय हैं।

व्यक्त-अव्यक्त-उपासनाका भेद, अभ्यास, ध्यान, ज्ञान, कर्मार्पण और फल-त्याग आदि साधनोंका निदर्शन तथा सिद्ध भक्तके लक्षण बतला चुकनेके पश्चात् योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण भगवान् अब तदनुसार आचरण करनेका उपदेश करते हैं, यह भक्ति-योग-धर्म अमृतके तुल्य है। इस भक्ति-सुधाका सतत सेवन करनेसे मनुष्य मृत्युसे मुक्त हो जाता है। गीतोक्त भक्तिका श्रद्धा-पूर्वक आचरण करनेसे हम जन्म-मरणके दारुण दुःखसे बच सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं। भगवान्‌के सच्चे भक्तका नाश कभी हो ही नहीं सकता—

कौन्तेय! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।

पर, भगवत्परायण होनेके लिए श्रद्धापूर्वक भक्तिका यथोक्त आचरण करना होगा। केवल कथनीहीसे काम न चलेगा, करनी करनी होगी। कथनी और करनीमें महान् अन्तर है–

कथनी मीठी खाँड़-सी, करनी विषकी लोय।
कथनी तजि करनी करै, विषसे अमृत होय॥
कहता तो बहुता मिला, गहता मिला न कोय।
सो कहता बहि जान दे, जो नहिं गहता होय॥

—कबीर

गीता अन्य रोचक फलयुक्त स्तोत्रोंकी तरह वह ग्रन्थ नहीं है, जिनके केवल पाठ अथवा श्रवणमात्रसे ही मुक्ति बतलायी जाती है। यहाँ तो यथोक्त आचरण ही मुख्य है। गीता-भक्तको केवल वाचनिक ज्ञानकी नहीं, किन्तु सच्चे पारमार्थिक ज्ञानकी आवश्यकता है। गीताकी शिक्षाको कार्यरूपमें परिणत करनेका चालीस वर्षतक सतत प्रयत्न करनेवाले गाँधीजीके इस वाक्य-में, वास्तवमें, अनन्त सत्य भरा हुआ है।

'यदि मनों गीताका अचरण-रहित अध्ययन तराजूके एक पलड़ेमें रक्खा जाय और दूसरेमें तनिकसा भी गीतामय जीवन रक्खा जाय, तो वह पहलेकी अपेक्षा कहीं अधिक भारी होगा।"

—कल्याणका 'गीताङ्क'।

भगवान्‌ने गीतामें अपने प्रिय भक्तके जो लक्षण निर्धारित किये हैं उनकी परमसिद्धि केवल तदनुकूल आचरणपर ही

अवलम्बित है । प्रेम-स्वरूप परमात्मामें तच्चित्त और तन्मय हो-कर फलाशा-त्याग-पूर्वक भगवत्-निर्दिष्ट लोक-हितकर कर्मोंको करते हुए अपनी आत्माको लीन कर देना ही जीवका परम जीवन-ध्येय है । ऐसे प्रिय प्राणीपर भगवान् कृपा न करेंगे, तो फिर किसपर करेंगे ? फिर भगवत्कृपासे परम शान्ति तो मिली-मिलाई है । अतः—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

हे भारत ! तू सब प्रकारसे उस ईश्वरकी ही शरणमें जा । उसकी कृपासे तुझे परम शान्ति और सनातन धाम प्राप्त हो जायगा । कौन धाम ?

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

जहाँ पहुँचकर जीव फिर जन्म-मरणके संसारको लौटते नहीं हैं, वही भगवान्‌का परम धाम है । 'सर्वभावेन' शरणमें जाना, मुख्य है । पर केवल इतना कह देनेसे ही काम न चलेगा, कि 'नाथ, हम तेरी शरणमें हैं ।' अपने अनवरत आचरणके द्वारा अद्वेषी, दयालु, निर्मम, अहङ्कार-रहित, क्षमाशील, सन्तोषी, दृढ़निश्चयी, संयमी, निर्द्वन्द्व, निरपेक्ष, पवित्र, चतुर, उदासीन, निर्विकार, सम, मितभाषी, अनासक्त और कर्म-फल-त्यागी जब-तक हम नहीं हुए, तबतक भगवान्‌के सान्निध्यका परमप्रसाद प्राप्त होनेका नहीं ।

वीर-श्रेष्ठ अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे अपूर्व भक्ति-रहस्यको सुना। वह अकथनीय प्रेम-भावसे उनके चरणाम्बुज पकड़कर बोला, 'नाथ ! आज मैं कृतार्थ हो गया, बस, अब और क्या कहूँ ?' प्रेम-स्वरूप श्रीहरिने अपने प्यारे सखाको हृदयसे लगा लिया। भगवान् वासुदेव बोले—

> सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
> इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

एक बात और सुन ले, जो सबसे अधिक गोपनीय है। भैया, तू मुझे अत्यधिक प्रिय है। इसीसे मैं तेरे हितकी यह बात कहता हूँ—

> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
> मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
> सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

अखिल विश्वको विश्व-वन्दनीय गीताकारका यही गुह्याद्गुह्यतर अमर सन्देश है।

अब मैं लोकमान्य तिलकके निम्नलिखित अमृतोपम शब्दोंके साथ अपने 'गीतामें भक्ति-योग' नामक इस निबन्धको समाप्त करता हूँ।

"श्रीमद्भगवद्गीतारूपी सोनेकी थालीका यह भक्तिरूपी अन्तिम कौर है, यही प्रेमग्रास है।"

मोहननिवास
विजयादशमी, १९८७

श्रीकृष्णार्पणमस्तु